शोध सरोवर पत्रिका

आरती, वषुतक्काटु, तिरुवनंतपुरम-695 014, केरल राज्य।

RNI No. KERHIN/2017/70008 ISSN No.2456-625 X

वर्ष 9 अंक 36 | **त्रैमासिक हिन्दी शोध पत्रिका** | 10 अक्तूबर, 2025

पीयर रिव्यू समिति :

प्रो.(डॉ.) शांति नायर

प्रो (डॉ.) के श्रीलता

प्रो.(डॉ.) बी.अशोक

मुख्य संपादक
डॉ.पी.लता

प्रबंध संपादक
डॉ.एस.तंकमणि अम्मा

सह संपादक
प्रो.सती के
डॉ.एस.लीलाकुमारी अम्मा
श्रीमती वनजा पी

संपादक मंडल
डॉ.बिन्दु सी.आर
डॉ.षीना यू.एस
डॉ.सुमा आई
डॉ.एलिसबत जोर्ज
डॉ.लक्ष्मी एस.एस
डॉ.धन्या एल
डॉ.कमलानाथ एन.एम
डॉ.अश्वती जी.आर

इस अंक में

		पृ.संख्या
संपादकीय	:	3
हिंदी और मलयालम के आदिवासी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन	: डॉ.श्रीकला एस.आर	4
रेत समाधि : हर सरहद लाँघती औरत की कहानी	: डॉ जयश्री एस टी	8
'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आधुनिकबोध	: डॉ. कविता त्यागी	12
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना : परंपरा और समकालीनता के बीच सेतुबंध का आग्रह	: रेमीसा सी. यु	20
नवगीत काव्य में सासंकृतिक चेतना	: डॉ. सरिता, डॉ. राजेश कुमार	24
निर्मला पुतुल की कविता 'मैं चाहती हूँ': एक आदिवासी विमर्श का प्रतिरोधात्मक स्वर	: डॉ.राजू.सी.पी	28
दलित कहानियों में अभिव्यक्त आक्रोश एवं विद्रोह	: बिंदु आर	31
भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों की संघर्षमय जीवन-यात्रा डॉ.रामदेव धुरंधर के उपन्यास 'पथरीला-सोना' के संदर्भ में	: आशा शर्मा, डॉ.प्रियंका यादव	37
लोक जीवन की परिधि में कृष्णा सोबती का कथा साहित्य	: पूनम लाकरा	41
चंद्रकात देवताले की कविताओं में युगबोध	: स्मिता जे एम	46

यू जी सी से अनुमोदित पत्रिका

लेखकों से निवेदन

भाषा, साहित्य, समाज एवं संस्कृति पर लिखी गयी स्तरीय मैलिक तथा अप्रकाशित रचनाएँ भेजें। प्राकशनार्थ अनूदित रचनाओं के साथ मूल लेखकों से प्राप्त सहमति पत्र भी भेजें। रचनाएँ हिंदी यूनिकोड मंगल फॉन्ट में टंकित होनी चाहिए। लेख के प्रारंभ में लेख का सार अपेक्षित है जो अधिकतम 150 से 200 शब्दों के मध्य हो। सार में लेख लिखने का उद्देश्य अवश्य परिलक्षित होना चाहिए। लेख के अनुरूप 5 से 7 'की वर्ड' (बीज शब्द) भी लिखें। लेख को यथोचित उपशीर्षकों में विभाजित करके लिखें। लेख के अंत में निष्कर्ष अवश्य दें। शब्द सीमा 2500 से 3000 शब्दों की हो। आलेख के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची ए.पी.ए. के प्रारूप में हो। लेख भेजते समय अपने नाम, पता, फोन नंबर एवं लेख का शीर्षक ई-मेल में अवश्य लिखें। इस आशय का एक घोषणा-पत्र प्रस्तुत कर दें कि लेख मौलिक है, अप्रकाशित है, भविष्य में इससे संबंधित किसी भी विवाद के लिए लेखक उत्तरदायी होंगे।

रचना के अंत में अपना पूरा डाक पता, मोबाइल नंबर और ई-मेल पता अंकित करें। संक्षिप्त जीवन-परिचय और फोटो भी भेजें।

मूल्य : एक प्रति रु.100/-

वार्षिक शुल्क रु .400/-

डॉ.पी.लता
संपादक
शोध सरोवर पत्रिका

पत्रिकाके संबंध में अधिकजानकारीकेलिए संपर्ककरें - डॉ.पी.लता (संपादक, शोध सरोवर पत्रिका; मंत्री, अखिल भारतीय हिन्दी अकादमी), आरती, टी.सी. 14/1592, फोरस्ट ऑफीस लेन, ई-28, वषुतक्काटु, तिरुवनन्तपुरम - 695 014, केरल राज्य।

फोन : 9946679280,9946253648

ई-मेल : akhilbharatheeyhindiacademy@gmail.com

संपादकीय

केरल की वर्तमान हिन्दी पत्रिकाएँ

पहले दक्षिण भारत अहिन्दी क्षेत्र माना जाता था। जैसे हिन्दी क्षेत्र की बोलचाल की भाषा हिन्दी है वैसे दक्षिण के प्रत्येक राज्यों की राज्य भाषा यहाँ की बोलचाल की भाषा है। केरल में मलयालम, कर्नाटक में कन्नड़, तमिलनाडु में तमिल और आन्ध्र प्रेदेश-तेलगाना में तेलगु आदि राज्य भाषाएँ हैं। दक्षिण के इन राज्यों में आजकल हिन्दी माध्यम से पढ़े कई व्यक्ति हैं, हिन्दी में डॉक्टरेट (पी एच.डी) उपाधि पाये कई व्यक्ति हैं, हिन्दी में लेखन-कार्य (मौलिक लेखन और अनुवाद) होते हैं और हिन्दी पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। यानि दक्षिण भारत अब अहिन्दी क्षेत्र नहीं है। ' राजभाषा नियम' 1976 में दक्षिण के राज्यों को 'ग क्षेत्र' (हिन्दीतर क्षेत्र) में शामिल किया गया है।

स्वतंत्रता-संग्राम के सिलसिले में अहिन्दी भाषी क्षेत्र केरल में हिन्दी भाषा के प्रचार का कार्य शुरू हुआ। यहाँ के कई राष्ट्रप्रेमी व्यक्तियों ने 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की कक्षाओं में हिन्दी पढ़ी और खुद हिन्दी प्रचारक बने। उनमें से कुछ व्यक्तियों ने 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' (मद्रास) की पत्रिकाओं -'हिन्दी प्रचारक' और 'दक्षिण भारत' - में अपनी हिन्दी रचनाएँ प्रकाशित करना भी शुरू किया। केरल के कुछ हिन्दी प्रचारकों द्वारा केरल में हिन्दी पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की गईं। सन् 1941 में श्री जी. नीलकंठन नायर द्वारा तृशूर (केरल) से निकाली गई 'हिन्दी मित्र' केरल की सर्वप्रथम हिन्दी पत्रिका है। इसके बाद कई हिन्दी पत्रिकाएँ केरल में प्रकाशित हुईं, जिनमें अधिकांश अल्पायु की रहीं। उन दिनों हिन्दी पत्रिकाओं के पाठकों की कमी तथा हिन्दी मुद्रणालयों की कमी केरल में 'हिन्दी पत्रकारिता' के विकास में बाधक तत्व रहीं।

फिल्हाल केरल के कुछ कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों से वार्षिक शोध पत्रिकाएँ निकल रही हैं, जैसे-शोध क्षितिज (सेंट तोमस कॉलेज, पाला), अनुशीलन (हिन्दी विभाग, कोचिन विश्वविद्यालय), शोध दर्पण (हिन्दी विभाग, केरल विश्वविद्यालय, तिरुवनंतपुरम), वातायन (सरकारी महिला महाविद्यालय, तिरुवनंतपुरम) आदि।

सरकारी महिला महाविद्यालय, तिरुवनंतपुरम के हिन्दी विभाग में 'झरोखे' नामक एक हस्तलिखित पत्रिका भी प्रतिवर्ष तैयार की जाती है। फिल्हाल स्वैच्छिक हिन्दी सेवी संस्थाओं से प्रकाशित पत्रिकाएँ हैं- केरल ज्योति (केरल हिन्दी प्रचार सभा, तिरुवनंतपुरम), शोध सरोवर पत्रिका (अखिल भारतीय हिन्दी अकादमी, तिरुवनंतपुरम), केरल हिन्दी साहित्य अकादमी शोध पत्रिका (केरल हिन्दी साहित्य अकादमी, तिरुवनंतपुरम), भारत पत्रिका (राष्ट्रीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, तिरुवनंतपुरम), जगन्नाथ हिन्दी साहित्य सारथी (जगन्नाथ हिन्दी महाविद्यालय, तलशेरी), जन विकल्प (विकल्प, तृशूर) आदि।

इनमें 'केरल ज्योति' और 'शोध सरोवर पत्रिका' नियमित रूप से निकल रही हैं। 'शोध सरोवर पत्रिका' और ' केरल ज्योति' विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी) से अनुमोदित केरल की हिन्दी पत्रिकाएँ हैं। यू.जी.सी. से अनुमोदित पत्रिकाएँ थीं 'संग्रथन' और 'भारत पत्रिका'। इनका प्रकाशन अब रुक गया है। हिन्दी क्षेत्र से सुदूर दक्षिण में स्थित केरल राज्य की यू.जी.सी. केयर लिस्ट में शामिल दोनों पत्रिकाओं- 'शोध सरोवर पत्रिका' और 'केरल ज्योति' - में भारत भर के कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के शोधिर्थियों और प्राध्यापकों के विविध विषयक हिन्दी शोध आलेख (विशेषकर साहित्यिक शोध आलेख) प्रकाशित होते हैं। 'शोध सरोवर पत्रिका' और 'केरल ज्योति' केरल की दो स्वैच्छिक हिन्दी सेवी संस्थाओं- क्रमश: अखिल भारतीय हिन्दी अकादमी और केरल हिन्दी प्रचार सभा – द्वारा हिन्दी के प्रचार, प्रसार और हिन्दी में शोध कार्य को बढ़ावा देने के उद्देश्य से प्रकाशित की जानेवाली शोध पत्रिकाएँ हैं।

केरल में हिन्दी भाषा के प्रचार का कार्य सन् 1922 से चलता आया है। यहाँ कुछ हिन्दी प्रचारकों द्वारा चलाई गई हिन्दी कक्षाएँ हिन्दी अध्यापन के केन्द्र रहीं। फिर हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के सिलसिले में हिन्दी प्रचारकों द्वारा हिन्दी पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की गईं। अहिन्दी भाषी क्षेत्र केरल में हिन्दी का प्रचार जब केवल शैशवावस्था में था तब जिन हिन्दी प्रचारकों ने हिन्दी पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, उनका लक्ष्य आर्थिक लाभ नहीं था। उनका लक्ष्य था हिन्दी पत्रिकाओं को केरल में हिन्दी भाषा के निकास का साधन बनाना। केरल में व्यक्तिगत प्रयास से निकली कई हिन्दी पत्रिकाएँ कुछ अंकों के प्रकाशन के साथ रुक गईं। किन्तु स्वैच्छिक हिन्दी सेवी संस्थाओं तथा शैक्षिक संस्थाओं के हिन्दी विभागों की मुख पत्रिकाओं के रूप में छपी गई कई पत्रिकाएँ आज यहाँ प्रकाशित हो रही हैं। यही नहीं, केरल में स्थित केन्द्र सरकार के क्षेत्रीय कार्यालयों से प्रकाशित हिन्दी गृह पत्रिकाएँ भी कई हैं।

डॉ.पी.लता

संपादक, शोध सरोवर पत्रिका

(मंत्री, अखिल भारतीय हिन्दी अकादमी)।

हिंदी और मलयालम के आदिवासी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन

◆डॉ.श्रीकला एस.आर

समाजशास्त्रीय अध्ययन सामाजिक संरचनाओं, संगठनों, सामाजिक परिवर्तनों एवं समस्याओं पर निर्भर रहता है। इसके अंतर्गत परिवार, शिक्षा-प्रणाली, धार्मिक परिवेश, अर्थव्यवस्था आदि का विश्लेषणात्मक अध्ययन निहित है। साहित्य का समाज से अटूट संबंध है। इसलिए साहित्य में समाजशास्त्रीय अध्ययन का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। साहित्य के क्षेत्र में जैसे समाजशास्त्रीय अध्ययन की अहम भूमिका है, वैसे ही तुलनात्मक अध्ययन का अपना महत्व रहता है। इससे हमारे दृष्टिकोण में विस्तार आता है, संकुचित मनोवृत्ति से मुक्ति मिलती है, हम औरों के महत्व को स्वीकार करते हैं, और रागात्मक संबंध स्थापित होता है।

विभिन्न भाषाओं में, विशेषकर हिंदी और मलयालम के आदिवासी उपन्यासों का, कथावस्तु पर केंद्रित समाजशास्त्रीय अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें चित्रित समस्याएँ और चुनौतियाँ लगभग समान हैं। शिक्षा, परिवार, स्त्री, जल, जंगल, ज़मीन, अस्मिता आदि पर आधारित संघर्ष या संकट इन दोनों भाषाओं के उपन्यासों में समान लगता है। श्री राकेश कुमार सिंह का उपन्यास "पठार पर कोहरा" एवं श्री जोस पाषुक्कारन का उपन्यास "करुत्तपुलिकल जनिक्कुन्नत" और श्री रणेन्द्र का उपन्यास "ग्लोबल गाँव के देवता" एवं श्री नारायण का उपन्यास "कोच्चरेत्ति" शिक्षा को मुख्य मुद्दा बनानेवाले हैं और अन्य समस्याओं को इसके इर्द - गिर्द चित्रित किया गया है। आदिवासियों का गैर आदिवासी पात्रों द्वारा उत्थान, ज़मींदारों द्वारा शोषण, नायक पात्रों की मृत्यु आदि दोनों भाषाओं के उपन्यासों में सामान हैं। श्री हरिराम मीणा का उपन्यास "धूणी तपे तीर" और श्री के. जे. बेबी का उपन्यास "मावेली मनरं" इतिहास की घटनाओं को जोड़कर लिखे गए आदिवासी उपन्यास हैं। दोनों उपन्यासों में स्वतंत्रतापूर्व भारत की ज़मींदारी व्यवस्था, ईस्ट इंडिया कंपनी का हस्तक्षेप आदि का उल्लेख है।

सामाजिक संरचना में शिक्षा का अभाव एक मुख्य समस्या बन गई है। इसका अभाव उन्हें हाशिये पर रखता है। ईसाई मिशनरियों, एवं गैर आदिवासियों द्वारा शिक्षा प्रदान करना, ज़मींदारों

और नेताओं का उनके प्रति कट्टर विरोध आदि हिंदी और मलयालम के आदिवासी उपन्यासों में उल्लेखनीय घटनाएँ हैं। झारखंड के जनजातीय जीवन पर लिखा गया सशक्त उपन्यास है "पठार पर कोहरा"। इसमें मुख्य पात्र संजीव सन्याल परिश्रम के बाद स्कूल स्थापित करने में सफल होता है तो बेचू तिवारी धमकी देते हुए कहता है, "अक्षर ज्ञान थोड़ा कम ही रहे तो उत्तम। अधिक ज्ञान देंगे तो अतिसार हो जाएगा। एक तो यह असुर स्वयं ही भालू ठहरे."[1] केरल में वयनाडु जिले के तिरुनेल्ली के पोयिल आदिवासियों की जीवन शैली पर आधारित श्रीमती पी.वल्सला के " नेल्लु" उपन्यास में समान संदर्भ मिलता है। इसमें मारन का कथन है, " जब खेती का काम शुरू करेंगे तो घर में छोटे बच्चों की देखभाल कौन करेंगे? खेतों में कौन बेल चलाएगा? बच्चे यह सब छोड़कर स्कूल क्यों जाएँ?[2] इसी प्रकार "पठार पर कोहरा" का पात्र सगुना मुंडा का सवाल है, "हमें पढ़कर क्या करना है? हल जोतना, तीर चलाना सब तो सीख लिए हैं हम लोगों ने"।[3] "पठार पर कोहरा" का संजीव और "करुत्तपुलिकल जनिक्कुन्नत"का पीटर मत्ताई आदिवासियों में आत्मसम्मान की भावना जागृत करने का प्रयास करते हैं। दोनों आदिवासी बच्चों को इकट्ठा करते हैं। अध्यापकों की कमी, पढ़ाई का माध्यम उनकी मातृभाषा न होना, आदिवासी इलाकों से सरकारी स्कूलों की दूरी आदि के कारण बच्चों को स्कूल पहुँचने में दिक्कत आती है। असुर समाज को केंद्र में रखकर लिखे गए "श्री रणेन्द्र" के उपन्यास "ग्लोबल गाँव के देवता" में रुमझुम शिक्षा के बारे में अपनी बेबसी प्रकट करता है, "असुरों के सौ से ज़्यादा घरों को उजाड़कर बना था वह स्कूल। अभी भी आसपास असुर आबादी है..... पिछले दो - तीन वर्षों से कैज़ुअल शिक्षक के रूप में काम करने की इच्छा है। लेकिन वहाँ भी दाल नहीं गलती.... हमारी ही छाती पर ताजमहल जैसा स्कूल खड़ाकर हमारी हैसियत समझना चाहते हैं लोग"।[4]

हिंदी उपन्यासों में "पठार पर कोहरा" का संजीव, "ग्लोबल गाँव के देवता" का मास्टर साहब, "जंगल जहाँ शुरू होता है" का मुरली पांडे एवं मलयालम उपन्यास में "करुत्तपुलिकल जनिक्कुन्नत" का पीटर मत्ताई, "कोच्चरेत्ति" का कोच्चुपिल्लै आशान, "नेल्लू" का अरुमुखम आदि पात्र आदिवासियों को शिक्षित करने का प्रयास करते हैं। यदि आदिवासी शिक्षित हुए तो वे शहर की ओर काम की तलाश में निकलते हैं। उन्हें नौकरी मिली तो वे जन्मभूमि में वापस लौटकर अपनी पीढ़ी को शिक्षा के सहारे प्रगति की ओर ले जाने की कोशिश भी नहीं करते। श्री नारायण के उपन्यास "कोच्चरेत्ती" के पात्र पार्वती और पद्मनाभन इसके ज्वलंत नमूने हैं।

सामाजिक संरचना का मुख्य पहलू समाज है। हिंदी और मलयालम आदिवासी उपन्यासों में सामाजिक जीवन का जो जीता-जागता चित्रण किया गया है, इसमें स्त्री का संघर्ष सबसे ज़्यादा मुखरित है। आदिवासी समाज में उनकी स्थिति मुख्यधारा समाज से कई मायनों में भिन्न है। "करुत्तपुलिकल जनिक्कुन्नत" उपन्यास में कोट्टायी कोलनी की स्त्री पात्र अम्मिणी के साहस की सराहना करते हुए हारी बंजमिन अपनी राय प्रकट करता है, "तुम्हें अक्ल है, बातें समझती हैं। तुम गुलामों केलिए आश्वासन हो। पूरी ताकत से लड़ो"।[5] रेलवे के सिपाहियों के हवस का शिकार होने के बाद जब पंचायत रंगेनी से उसके पेट में पल रहे बच्चे के बाप के बारे में पूछती है तो वह कहती है, उसे मर्द पर भरोसा नहीं। वह अपने गाँव से हटकर अकेले अपनी छोटी- सी झोपड़ी खड़ी करती है। वह पुरुष वर्चस्व को चुनौती देती है। रंगेनी के समान "करुत्तापुलिकल जनिक्कुन्नत" उपन्यास की अम्मिणी को भी समान परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। लेकिन रंगेनी का संघर्ष सीमित दायरे में है तो अम्मिणी का संघर्ष पूरे समाज से है।

प्रस्तुत उपन्यासों में आदिवासी स्त्री-शोषण के

कई संदर्भ मिलते हैं। पुलिस बलात्कार करती है तो अम्मिणी पुलिस से कहती है, "मेरा और मेरी सहेलियों का तुमने बलात्कार किया है। ज़मीन के लिए संघर्षरत हमें जेल में डाल दिया है। हम आतंकवादी हैं, अपनी मिट्टी और अपनी ज़िंदगी केलिए लड़ रही आतंकवादी"।[6]

हिंदी और मलयालम के आदिवासी उपन्यासों में जंगल और ज़मीन केलिए मेहनत करनेवाले लोगों की आवाज़ बुलंद है। बाहर से आयी कंपनियाँ ज़मीन खोदकर बॉक्साइट का खनन करती हैं। गड्ढों को नहीं भरतीं। इनमें पनपनेवाले मच्छरों को मारने की कोई योजना नहीं। सब कहीं मलेरिया फैलती है। विदेशी कंपनी का नाम वेदांग रखा है। इसके बारे में उपन्यास के पात्र डॉक्टर साहब का कहना है, "यह कंपनी है विदेशी और नाम रखा है वेदांग, जैसे प्योर देसी हो कितना चालू पूजा है इसी से पता चलता है"।[7] श्री हरिराम मीणा के चर्चित उपन्यास "धूणी तपे तीर" में अंग्रेज़ी सरकार की शासन व्यवस्था से पीड़ित भील व मीणा आदिवासियों का चित्रण मिलता है। अंग्रेजी सरकार अपनी आय बढ़ाने के लिए आदिवासियों के खिलाफ तरह-तरह के नए कायदे - कानून लागू करने की कोशिश करते हैं। लॉर्ड मिंटो आदिवासियों को अपने कब्जे में रखने के लिए उपाय ढूँढ निकाला। राजकोष को समृद्ध करने केलिए भूमि बंदोबस्त की गई। नई योजना को तुरंत लागू किया जाए। कृषि भूमि के रकबा के आधार पर लगान तय कर दिया जाए ताकि तयशुदा लगान राजकोष में जमा हो सके। इसी तरह मदिरा- उत्पादन पर अपना पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए। आय का यह एक अच्छा स्रोत है। ऐसी ही नीति वनोपज के क्षेत्र में अनिवार्य है।

उत्तराधुनिक दौर में अपनी अस्मिता या पहचान को बनाए रखने केलिए आदिवासी को समाज से निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। उनमें विस्थापन की समस्या भी मौजूद है। मुख्यधारा का समाज आदिवासियों को गलत तरीके से परिभाषित करता है। मलयालम में "मावेली मनरं" और हिंदी में 'ग्लोबल गाँव के देवता' जैसे उपन्यास इसके दस्तावेज़ हैं। "मावेली मनरं" में कैपाडन नामक गुलाम को जब बेचने के लिए ले जाता है तब वह पूछता है, "भैंस जैसे गुलाम को बेचने की क्या ज़रूरत है?[8] बार-बार जानवर के साथ तुलना करने से स्वयं वह सोचने लगता है कि वास्तव में क्या हम जानवर हैं? इस उपन्यास के एक प्रसंग में पेरुमन काक्किरी से पूछा जाता है, "इस हकदार ज़मींदारी दुनिया से आज़ादी के बारे में क्या कभी किसी गुलाम ने सोचा है ? इसी चिंता का बीज कभी बोया है गुलामियों के मन में? बिना हकदार की दुनिया और हमें गुलामी से मुक्ति"।[9] आदिवासियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण "ग्लोबल गाँव के देवता" में मिलता है, "सुना तो था कि यह इलाका असुरों का है। किन्तु असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लंबे-चौड़े, काले - कलूटे, भयानक दांत- वांत निकले हुए, माथे पर सींग- वींग लगे हुए लोग होंगे"।[10] अपनी अस्मिता को स्वयं पहचानने केलिए "करुत्तपुलिकल जनिक्कुन्नत" के 'हरि बेंजमिन" जैसे लोग आदिवासियों को प्रेरणा देते हैं, "जो न्याय केलिए लड़ते हैं, वे कभी नहीं मरते. सारी धमकियों को चुनौती के साथ सामना करो, इसकेलिए धीरज रखना है.... जो प्रतिरोध नहीं जानते, वे धोखे खाते हैं। अगर तुम मदिरा पान और तंबाकू खाना बंद करो तो तुम्हें अक्ल के साथ सोचने की शक्ति मिलेगी"।[11] "धूणी तपे तीर" (हरिराम मीणा) में गोविंद गुरु आदिवासियों से कहता है, "एक दूजे के काम में हाथ बाँधने केलिए मेहनत करने में कोई हर्ज नहीं है। मेहनताना के बदले काम करना बुरा नहीं। यह तो हमें करना ही होता है। बिना कुछ लिए- दिए बेकार रहना तो एक तरह से गुलामी है।" [12] "ग्लोबल गाँव के देवता" में वेदांग जैसी कंपनी के कारण भौंरापाट आदिवासी का दर्दनाक चित्र मिलता है। ज़मींदार

आदिवासियों की ज़मीन को प्लांटेशन कंपनी को बेच देते हैं। "करुत्तपुलिकल जनिक्कुन्नत" में कोटायी कॉलोनी के लोगों को अपनी ज़मीन छोड़ना पड़ता है। लेकिन भौंरापाट के आदिवासी हर मुश्किल के बावजूद वहीं रहकर कंपनी के विरुद्ध लड़ते हैं। कोटायी कालोनी के आदिवासी प्रतिरोध की भाषा से कोसों दूर है। उन्हें सिर्फ ज़मीनदारों के आतंक की भाषा समझ में आती है। "ग्लोबल गाँव के देवता" में पूरा समाज जंग के मैदान में उतरता है। कोटायी कालोनी के लोग संगठित नहीं होते। आशा की किरण के रूप में "ग्लोबल गाँव के देवता" में सुनील असुर का आगमन और "करुत्तपुलिकल जनिक्कुन्नत" में कोच्चेरुक्कन का जंगल वापस आना एक नए आंदोलन की शुरुआत है।

सामाजिक संगठन में धर्म का विशेष महत्व रहता है। आदिवासियों के संदर्भ में उनकी विभिन्न जनजातियों में धर्म के नाम पर कई संस्कृतियाँ प्रचलित हैं। उनके रीति-रिवाज़ में धर्म एक अभिन्न हिस्सा बन गया है। लेकिन धर्म के नाम पर कई अंधश्रद्धाएँ प्रचलित हैं। वे प्राकृतिक शक्तियों में भरोसा रखते हैं। जब ईसाई मिशनरियों का आगमन हुआ तब से धर्म को लेकर उनकी धारणाएँ बदलने लगीं। "धूणी तपे तीर" उपन्यास में इसका उल्लेख है."मिशनरी ने जगह-जगह पर स्वास्थ्य केंद्र खोलकर लोगों को बड़ी राहत पहुँचायी। परंतु उनकी यह मदद निस्वार्थ नहीं थी। उन्होंने बड़ी भारी संख्या में आदिवासियों को ईसाइयत अंगीकार करवाई"।[13] श्री प्रकाश मिश्र के आदिवासी उपन्यास "जहाँ फांस फूलते हैं" उपन्यास में धर्म-परिवर्तन का संकेत मिलता है, "पादरी आया तो सभी उठ खड़े हुए। खड़े ही समवेत स्वर में प्रार्थना की। पादरी ने उपदेश देना शुरू किया। हम जन्मजात पापी हैं, क्योंकि हमारे आदि पुरुष ने खुदा का हुक्म तोड़ा था। ज्ञान का फल खाकर, ज्ञान शैतानियत का लक्षण है और हर ज्ञानी पापी है। इसलिए हमें ज्ञान से बचना चाहिए और गड़रिए की भेड़ की तरह मासूम बनाकर रखना चाहिए। किंतु हम अज्ञानी नहीं रह पाते। देखो, इन दिनों वाई हमें ज्ञानी बना रहा है। ज्ञान से बचने यानी रास्ता भटकने से बचने और भटक जाने पर सही रास्ता दिखाने, यानी पुनर्जन्म देने के लिए उस कृपालु खुदा ने अपना एकमात्र पुत्र जेसू को हमें भेजा था। हमें उसका शरणागत होना चाहिए। यह तभी संभव होगा जब उसका राज्य इस ज़मीन पर हो। किंतु देखो इस ज़मीन पर वाई का राज्य है। उसे समाप्त कर जेसु का राज्य लाना होगा"।[14] मलयालम उपन्यास "कोच्चरेत्ती" में समान संदर्भ मिलता है। उपदेशी कहने लगे, "हम ज्ञान स्नान करके ऐसा ही बन गए। मसीहा के सिवा कोई ईश्वर नहीं। पत्थर और पेड़ की आराधना गलत है। यदि तुम्हें पाप से मुक्त होकर स्वर्ग पहुँचना है तो ईसा से प्रार्थना करो। जो उन पर भरोसा करेगा वे उसकी रक्षा करेंगे"।[15]

आदिवासी जीवन के विविध मुद्दों को उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में चर्चा का विषय बनाकर उनकी विविध परिस्थितियों से पाठकों को परिचित कराने में हिंदी और मलयालम के आदिवासी उपन्यासकार सिद्धहस्त हुए हैं। उन्होंने आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं को पूरी ईमानदारी से पाठकों के सम्मुख रखा और अपनी यथार्थवादी दृष्टि को संवेदना के साथ व्यापक बनाया। उनके उपन्यासों में अनुभव की विविधता है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के इस दौर में विकास और नवभारत निर्माण के नाम पर आदिवासियों की अपनी पैतृक संपत्ति को बाज़ार के भाव और जल, जंगल एवं ज़मीन से बेदखल करने की कोशिश हो रही है। इन विपरीत परिस्थितियों में आदिवासियों के दु:ख- दर्द को शब्दबद्ध करने का जो प्रयास साहित्यकारों की ओर से हो रहा है, निस्संदेह सराहनीय है।

संदर्भ:

1. राकेश कुमार सिंह, पठार पर कोहरा, पृष्ठ संख्या 143, भारतीय ज्ञानपीठ, 2003.

2. पी. वल्सला ,नेल्लु, पृष्ठ संख्या.32, डी.सी बुक्स,1972.

3. राकेश कुमार सिंह, पठार पर कोहरा, पृष्ठ संख्या, 73.
4. श्री रणेन्द्र ,ग्लोबल गाँव के देवता, पृष्ठ संख्या-19, राजकमल प्रकाशन, 2009.
5. जोस पाषूक्कारन, करुत्तापुलिकल जनिक्कुन्नत, पृष्ठ संख्या 133, डी.सी. बुक्स, 2012.
6. वही, पृष्ठ संख्या 250.
7. श्री रणेन्द्र, ग्लोबल गांव के देवता, पृष्ठ संख्या. 80.
8. के. जे.बेबी, मावेली मनरं, पृष्ठ संख्या. 31, करंट बुक्स, 1991.
9. वही, पृष्ठ संख्या. 127.
10. श्री रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृष्ठ संख्या. 11.
11. करुत्तापुलिकल जनिक्कुन्नत, जोस पाषुकारन, पृष्ठ संख्या.128
12. हरिराम मीणा, धूणी तपे तीर, पृष्ठ संख्या. 44, साहित्युपक्रम, 2008.
13. वही, पृष्ठ संख्या. 155
14. श्री प्रकाश मिश्र, जहाँ फांस फूलते हैं, पृष्ठ संख्या.131, याष् पब्लिकेशंस, 2016.
15. नारायण, कोच्चरेत्ति, पृष्ठ संख्या. 124, डी.सी बुक्स, 1998

◆ प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
यूनिवेर्सिटी कालेज, तिरुवनन्तपुरम,
केरल राज्य।
मो: 7356325607

रेत समाधि : हर सरहद लाँघती औरत की कहानी

◆डॉ.जयश्री.एस.टी

साहित्यकार मानव जीवन के बिखरे हुए सभी पहलुओं को विशिष्ट प्रकार से संजोकर साहित्य के रूप में सृजित करता है। हिंदी कथा साहित्य मुख्य रूप से समाज के प्रत्येक वर्ग एवं मानव मन की संवेदना को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। समकालीन उपन्यासों में एक नवीन जीवन-दृष्टि मिलती है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विषम परिस्थितियों के कारण आज के मानव को मोहभंग, विफलता बोध, कुंठा, संत्रास जैसी भावनाएँ पूर्ण रूप से प्रभावित करती हैं जिनके कारण संबंध- हीनता, व्यर्थताबोध, संवादहीनता, आत्मनिर्वासन आदि भावनाएँ विकट रूप में प्रकट होती जा रही हैं। वर्तमान में प्रत्येक मनुष्य बाहर से सभ्य एवं परिपूर्ण है, परंतु भीतर से उतना ही खंडित अंतर्द्वंद्वों से जूझता हुआ या फिर यूँ कहें कि अकेलापन की पीड़ा व संत्रास को अपने भीतर छिपाए हुए जीवन व्यतीत कर रहा है। समकालीन हिंदी उपन्यासों में अब खुलकर इन भावनाओं, संत्रास, पीड़ा, अंतर्द्वंद्व एवं स्वयं की पहचान की खोज को केंद्र में रखकर लेखन किया जा रहा है।

उपन्यास में कथाकार यथार्थवादी दृष्टि अपनाते हुए अपने चारों ओर बिखरे जीवन में से ही अपने लिए कथा सूत्र चुनता है। साहित्य में प्राचीनता के साथ नवीनता का सामंजस्य ही समकालीनता है। समकालीनता में एक ओर जीवन के प्रति क्रियाशील होने का भाव है, तो दूसरी ओर अतीत और भविष्य दोनों से अलग हटकर युगबोध की स्थिति विशेष को अभिव्यक्त करता है। 'रेत समाधि' उपन्यास भी समकालीन प्रवृत्तियों को उद्घाटित करता है।

गीतांजलि श्री हिंदी कथासाहित्य में अपने मौलिक सृजन के रूप में विशिष्ट पहचान बनाती हैं। उनके पाँच उपन्यास और पाँच कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनके उपन्यास हैं– 'माई', 'हमारा शहर उस बरस', 'तिरोहित', 'खाली जगह' और 'रेत समाधि'। उनका बहुचर्चित उपन्यास 'रेत समाधि' सन् 2018 में

प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास फ्रेंच और अंग्रेज़ी भाषा में अनूदित भी हुआ है। डेज़ी रॉकवेल ने 'टॉम्ब ऑफ सैंड' नाम से अंग्रेज़ी में इसे अनूदित किया है जिस पर 2022 के 'अंतरराष्ट्रीय बुकर पुरस्कार' से गीतांजलि श्री को सम्मानित किया गया। 'रेत समाधि' उपन्यास देश-विदेश के पाठकों में बुहुचर्चित तथा लोकप्रिय हुआ है।

'रेत समाधि' उपन्यास में दो औरतें हैं-अम्मा और उनकी बेटी । अस्सी साल की वृद्ध स्त्री उपन्यास का केंद्र बिंदु है। इनके अलावा बड़ी भाभी, सिद्धार्थ, अली अनवर, केके, राहत साहब, मिस्टर एम्बेसडर, जनाब इंशा अल्लाह, रोज़ी ये सारे चरित्र उपन्यास की कथा को एक नया मोड़ देते हैं। उपन्यास की कथा को उद्देश्य की दिशा में अग्रसर भी करते है। उपन्यास का प्रारंभ करते हुए लेखिका लिखती हैं कि "एक कहानी अपने आपको कहेगी। मुकम्मल कहानी होगी और अधूरी भी, जैसा कहानियों का चयन है। दिलचस्प कहानी है। उसमें सरहद है और औरतें, जो आती हैं, जाती हैं, आरम्पार। औरत और सरहद का साथ हो तो खुद-ब-खुद कहानी बन जाती है बल्कि और भर भी कहानी है। सुगबुगी से भरी। ...इस किस्से में दो औरतें थीं। उन औरतों के अलावा जो आयीं और चली गयीं या वे जो बराबर आती जाती रहीं और वे भी जो लगभग लगातार नहीं पर बहुत अहम् नहीं थी और उनका तो अभी जिक्र ही क्या जो औरतें नहीं थीं। अभी ऐसा कि दो औरतें अहम् थीं और उनमें से एक छोटी होती गयी और एक बड़ी ।"[1]

स्पष्ट है कि यह उपन्यास मुख्य रूप से माँ और बेटी के रूप में दो औरतों की कहानी है, इसलिए इसमें स्त्रियों का जीवन और उनसे जुड़े मुद्दों का व्यक्त होना स्वाभाविक है। ये स्त्रियाँ उच्च मध्यवर्ग की हैं, जिनकी स्थिति सामान्य और निम्नवर्ग की स्त्रियों से काफी भिन्न है। उन्हें उन चुनौतियों का सामना नहीं करना पड़ता जिसे सामान्य घरों की स्त्रियाँ झेलती हैं। ये सभी औरतें सुख-सुविधा संपन्न और आज़ाद हैं । यद्यपि उपन्यास में दोनों मुख्य स्त्री पात्र अपने नाम से नहीं आतीं वे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की प्रमुख पहचान माँ और बेटी से संबोधित होती हैं। फिर भी उनका व्यक्तित्व स्वतंत्र चेतना का है। इसमें वैश्वीकरण के दौर की वह स्त्री है, जो पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में रहते हुए भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। वे नारीवादी आंदोलन की नहीं, बल्कि उससे अलग युग की स्त्रियाँ हैं। इसलिए इस उपन्यास में पारम्परिक स्त्री-विमर्श का स्वर नहीं है।

उपन्यास को तीन भागों में बँटा गया है - पीठ, धूप और हर-सरहद । 'पीठ' भाग में माँ और उसकी बेटी दो औरतें हैं। माँ के पति की मृत्यु हो जाने के बाद वह ज़िंदा होकर भी मर गयी। वह अपने कमरे में अपने बिस्तर के ऊपर पड़ी रहती है। अपने परिवार को उसने पीठ दिखा दी थी। जो भी उन्हें बहलाने-फुसलाने आता, कि 'उठो अम्मा' उसकी ओर माँ पीठ फेरकर दीवार की ओर मुँह फेर लेती और दीवार में अंदर-ही अंदर घुसने का प्रयास कर परिवार के लिए पीठ फेर खुद दीवार बन जाती। उन्होंने ठान ही लिया था कि वह अब नहीं ही उठेगी। रोज़मर्रा के यांत्रिक जीवन को याद करके अम्मा ने ठान ही लिया है, अब वह नहीं उठेगी। किंतु बच्चों ने भी उन्हें किसी भी तरह से ज़िंदा रखने की कोशिश शुरू कर दी थी। अम्मा की नहीं से 'नई' की ध्वनि सुनाई देती है । "नहीं नहीं मैं नहीं उठूँगी । अब तो मैं नहीं उठूँगी। अब्ब तो मैं नइ उठेंगी। । अब्ब तो मैं नइई उठूँगी। अब मैं नयी उठूँगी। अब तो मैं नयी उठूँगी।"[2] सच में होता भी है यही । अम्मा जब उठती है तो वह सोच-विचार की दृष्टि से नए तेवरों को लेकर उठती है। वह दिन-ब-दिन छोटी होती जाती है - कद से भी और स्वभाव से भी।

कथा बीच-बीच में फ्लैशबैक में भी जाती है, परंतु पुन: वर्तमान से जुड़ती जाती है। जब कथा प्रारंभ होती है तो वृद्ध महिला अपने पति की मृत्यु के पश्चात् जीवन से मुँह मोड़ लेती है, इस खंड में वह

वृद्ध महिला असहाय, अकेलेपन की शिकार नज़र आती है। अर्थात् मृत समान। वह अपने बड़े बेटे, बहू के साथ रहती है। जिस कमरे में वह रहती है, वहाँ दीवार की तरफ मुद्दह कर लेती है और संसार की तरफ पीठ । जहाँ से वह कुछ देखना ही नहीं चाहती, अच्छा-बुरा कुछ नहीं । बस अपने अंतिम क्षण की प्रतीक्षा करती है। उसके बेटा, बहू उसे जीवन जीने को कहते है, परंतु वह जीना ही नहीं चाहती। वृद्ध महिला का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन बिगड़ता जाता है, जिसके लिए उसे अस्पताल में भर्ती करायी जाती है, परंतु बूढ़ी अम्मा अर्थात् वृद्ध महिला अस्पताल से अचानक गायब हो जाती है।

माँ के गायब होने से ही प्रथम खंड 'पीठ' एक जिज्ञासा के साथ समाप्त हो जाता है। यहाँ लेखिका ने वर्तमान समय के परिदृश्य को भी कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जहाँ एक ही घर में अनेक सदस्यों के होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति अकेलापन, संत्रास, पीड़ा अजनबीपन से जूझ रहा है। न उसे कोई सुननेवाला हैं, न ही कोई सुनानेवाला ।

यहाँ लेखिका ने भाषा-शिल्प को एक नए रूप में प्रस्तुत किया है - "वो लौटकर नहीं आयीं । ये भटकाने वाला जुमला हो गया अगर अगला न पढ़ें। वो लौटकर नहीं रहीं उस घर में। पर दोनों मिलकर भी भटकाऊ जुमले ही हैं।"[3]

दूसरा खंड 'धूप' है। यहाँ गीतांजलि श्री ने कथा को एक नवीन रामांचक मोड़ प्रदान किया है। जहाँ प्रथम खंड 'पीठ' में वृद्ध महिला ने सभी तरफ अपनी पीठ कर ली थी, वहीं 'धूप' खंड में वृद्ध महिला का व्यक्तित्व दूसरे रूप में सामने आता है। वृद्ध महिला अपनी बेटी के घर पहुँचती है जो स्वच्छंद है, उन्मुक्त है, किसी बंधन, परंपरा से बँधी नहीं है। लेखिका लिखती है - "बेटी के घर का दरवाज़ा खोलते ही लंबे खुले हाल के पार बालकनी से भीतर दाखिल होती ग्रीनबेल्ट थी और उस पार नीली छत्रछाया । बंद आँखों पे सुकून खेल जाए। या बंद आँखें खुल जाएँ... न ये वो वाला दरवाज़ा नहीं। यहाँ तो बेटी बनायी दुनिया खुलती ।"[4]

जहाँ माँ अर्थात् वृद्ध महिला जीवन से निराश थी, वहाँ बेटी के पास पहुँचते ही जीवन जीने की जिजीविषा को लिए हुए दिखाई देती है। बेटी केके अर्थात् अपने प्रेमी के साथ मुक्त होकर रहती है। यहाँ हम देखते हैं कि माँ धीरे-धीरे सही होने लगती है। बेटी जो परंपराओं से मुक्त है, वह अपने वैवाहिक जीवन में कहीं-न-कहीं असफल रहती है। परंतु माँ के प्रति उसका समर्पण भाव सराहनीय है – "धूप के साथ माँ उठने लगी और पहले आँखों से फिर पूरे से धूप ही के साथ घर में फैलने लगी।"[5]

माँ के स्वास्थ्य में दिन-प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा सुधार होता रहा। 'माँ बेटी बनती गई और बेटी माँ'। यहाँ लेखिका ने स्त्री युग्म को प्रस्तुत किया है। एक ऐसा प्रतिबिंब जो एक-दूसरे अर्थात् माँ बेटी से जुड़ा हुआ है। यहाँ 'रोज़ी' जो कि उभयलिंगी है, उसके महत्व को भी लेखिका ने दर्शाया है, माँ को रोज़ आकर संबल देती है। उसे जीवन केलिए आकर्षित करती है। जहाँ कभी-कभी बेटी को माँ का रोज़ी से मिलना बुरा भी लगता है। किंतु फिर उसे तुरंत एहसास होता है कि उसका घर किसी भी बंधन से परे है। जहाँ कोई भी आ जा सकता है। यहाँ लेखिका ने बेटी के मनोभाव को भी बड़े ही सुंदर और संवेदनात्मक रूप से प्रस्तुत किया है। यहाँ एक अलग मनोभाव ही दिखता है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में किसी की उपस्थिति चाहता है, जिससे वह अपने हृदय के भावों को संवेदनाओं को बाँट सके । माँ, बेटी और रोज़ी इस खंड में ऐसे पात्र के रूप में दिखाई देती हैं। अब माँ स्वस्थ हो रही है, वह बालकनी, घर का चक्कर लगाने के साथ बाज़ार भी आने-जाने लगी है। वृद्ध महिला को रोज़ी से आत्मीयता हो जाती है। एक दिन रोज़ी गायब हो जाती है और माँ का हृदय

दुखी और बेचैन हो जाता है तथा अंत में रोज़ी के मरने की खबर मिलती है। वहाँ से माँ पुन: मृतप्राय हो जाती है। अर्थात् फिर वह सिकुड़ने लगती है। माँ एक बार फिर से जीना नहीं चाहती। बेटी माँ से पूछती है कि माँ क्या चाहती है ? तब माँ कहती है कि मैं एक बार पाकिस्तान जाना चाहती हूँ । तब उनका बेटा वीज़ा की व्यवस्था करने का प्रयास करता है, परंतु नाकाम होता है। वहीं माँ बेटी के बिना वीज़ा के, सरहद पार करने का निर्णय लेती है।

तीसरा खंड 'हद-सरहद' है। इस भाग में लेखिका अलग-अलग किंतु एक-दूसरे से जुड़ी चार कहानियों से पाठकों को अवगत करवाती हैं, जहाँ कथानक के अंतिम पड़ाव में अनेक रहस्यों से पर्दा उठाया जाता है एवं कथा में और अधिक उत्सुकता, रोचकता उत्पन्न हो जाती है। पहली कहानी 'कहानियाँ' शीर्षक के अंतर्गत लिखी गई है, जिसमें लाहौर, घर, दरवाज़े, कमरा, छत, गली, स्कूल, सोलह वर्षीय चंदा और अनवर है। यह चंदा और अनवर की प्रेम कथा है। दूसरी कहानी का शीर्षक 'मूर्ति और वो लड़की' है जिसमें रोती-कलपती औरतें, बुद्ध की भग्न मूर्ति, गोलियाँ, चीखें, ग्यारह-बारह साल की लड़की और पट्टेवाला लड़का है। 'रेत समंदर' तीसरी कहानी है, जिसमें सीटियाँ, बवंडर रेत-ही-रेत है। चौथी कहानी का नाम 'डूबों का होना' है जिसमें सूखे लहू से लथपथ, अनाज की बाली और सरहद है, जिसने रोज़ी को छीन लिया। इन कहानियों में लूट-खसोट, बलात्कार, कराह, बिछुड़न व वंचना की शर्मशार करनेवाली घटनाएँ उद्धृत हैं, जिनके ज़ख्म आज भी भारत-पाक के मानचित्र को कुरेद रहे हैं। वृद्ध महिला अपने जीवन से जुड़े सत्य को बताती है। विस्थापित होने की जो दंश और पीड़ा है, वह भी चंदा अर्थात् वृद्ध महिला के द्वारा दिखाई पड़ती है। यहाँ नाम और अस्तित्व का अंर्तद्वंद्व प्रस्तुत संवाद के माध्यम से देखा जा सकता है – "मैं चंदा, माँ उससे ऊँचा कहती हैं। आपके पासपोर्ट में यह नाम नहीं है। आपका पता भारत का है जो यहाँ से बहुत दूर है। वो तो जहाँ है वही है, तुम दूर हो पुत्तर । ... नहीं पुत्तर, मैं आई नहीं, यहाँ से गई हूँ।"[6]

यहाँ चंदा अनवर से मिलना चाहती है। बेटे के पूछने पर 'अनवर कौन है?' तब माँ बताती है कि अनवर, जो विभाजन से पूर्व उसका शौहर था । विभाजन के बाद चंदा का अनवर से बिछोह हो जाता है। अनवर इस पार और चंदा सरहद के उस पार पहुँच जाती है और चंदा से चंदप्रभा बन जाती है। अनवर से जब चंदा मिलती है तो एक प्रेमिका, पत्नी की तरह अत्यंत भावुक हो जाती है। यहाँ लेखिका ने प्रेम की ऐसी स्थिति को अभिव्यक्त किया है, जो प्रत्येक पाठक को भावुक कर जाती है। चंदा अनवर से कहती है कि तुम मुझे माफ़ कर दो और मैं तुम्हें । अनवर अस्पताल में है, जो कुछ कह नहीं सकता, लेकिन उसके मुँह से माफ़ी शब्द निकलता है, जो वास्तव में जीवंत-सा प्रतीत होता है। यहाँ सरहद, रेत से जो चंदा का अस्तित्व जुड़ा हुआ है, वह भी उभरकर सामने आता है, जो इस प्रकार चंदा के वक्तव्य में दिखाई पड़ता है-

"भूलना मर जाना है। मैं मरी नहीं हूँ। मैं रेत में अपने पीछे सब दबा आई थी। आज उसी रेत पे फिर आ गई है। ऐसा कुछ।" [7]

लेखिका ने यहाँ कौवा, तितली, तीतर सभी को कथा से जोड़ा है, जो चंदा के प्रेम, दुख, सुख, मिलन, बिछोह सभी के साक्षी हैं। यहाँ प्रेम और मिलन का भी अद्भुत दृश्य है। "प्रेम की आँखें नम हुईं, प्रेमिका ने मिलन मिलने गीत गाये। उनकी कहानी नरमी से उन पर लैंप की नर्म लाली बनके फैली एक नरम सुंदर तान उठाती। अनवर और चंदा के प्रेम का नर्म सरजाम जो बिल्कुल दुख नहीं करता जैसा कि कोई अमर प्रेम कथा नहीं करती।"[8]

इसमें स्त्री युग्म, पशु-पक्षी, धूप-छाँव सभी

कुछ है और वह भी जीवंत रूप में। भाषा का शिल्प बेजोड़ है। कथा को पढ़ते हुए काव्यात्मकता सी प्रतीत होती है। इस उपन्यास का बीज शब्द सरहद है। सरहदें जो परिवार ने बनाईं, जो समाज ने बनाईं। यह उपन्यास स्वच्छंद रूप से उन सारी सरहदों को तोड़ता हुआ दिखाई देता है, वह भी वृद्ध महिला चंदा के द्वारा।

'रेत समाधि' उपन्यास में मूलत: मध्यवर्गीय परिवार की कथा दिखाई पड़ती है, किंतु इसके माध्यम से लेखिका ने जिस व्यापक फलक को ग्रहण किया है उसमें देह, देश, भाव, भाषा और शिल्प आदि सभी की सीमाएँ टूट गई हैं। देह की सीमाएँ टूटने से स्त्री और थर्ड जेण्डर का मनुष्य रूप निखरकर सामने आया है, जो पारम्परिक विमर्शों से आगे का चिंतन है। देश की सीमाएँ टूटने से भारत-पाकिस्तान के विभाजन की त्रासदी और इसकी व्यर्थता रेखांकित होती हैं, जबकि भाषा, भाव एवं शिल्प की सीमाओं के अतिक्रमण ने इस उपन्यास को काव्य की भाव-भूमि पर उतार दिया है। उसने कथ्य और शिल्प के स्तर पर ही नहीं, बल्कि अपनी कथा में समाहित विभिन्न मुद्दों पर बने मानदंडों को भी पुन: परिभाषित करने का सफल प्रयास किया है।

संदर्भ

1. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, उपहार संस्करण, 2023 पृ. 9
2. वही, पृ. 13
3. वही, पृ. 98
4. वही पृ 123.
5. वही पृ. 129
6. वही पृ. 317
7. वही पृ. 338
8. वही पृ. 367

◆सहायक प्राध्यापिका

के.एस.एम.डी.बी.कॉलेज

शास्तांकोट्टा, कोल्लम, केरल राज्य।

मो : 9400729112

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आधुनिकबोध

◆ डॉ. कविता त्यागी

'बाणभट्ट की आत्मकथा' हज़ारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित उपन्यास है । इसकी रचना उस समय की गयी थी, जब हमारे देश पर अंग्रेज़ों का शासन था और द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था। इस पराधीनता को द्विवेदी जी ने राष्ट्रीय संकट के रूप में देखा और परोक्षतः 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हर्षवर्धन काल के राष्ट्रीय संकट के रूप में इसको अभिव्यक्त किया। बोध के स्तर पर ऐतिहासिकता और पौराणिकता की रक्षा करते हुए द्विवेदी जी ने इस उपन्यास में अपने युग-समाज का यथार्थ उजागर किया है। उनकी यही विशेषता इस उपन्यास को समसामयिक यथार्थ और आधुनिक बोध से जोड़ती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के केंद्र में बाणभट्ट का जीवन है जो राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतीक तुवरमिलिंद की कन्या भट्टिनी की मुक्ति के बड़े उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ता है। इस साहसिक अभियान के पीछे उसकी कामवासना नहीं, बल्कि कर्तव्य-भाव की प्रेरणा है। अपहरण की यह घटना केवल भट्टिनी के साथ घटित नहीं हुई थी, बल्कि उस कालखंड में राजाओं तथा सामंतों के अंत:पुर की शोभा बढ़ाने और कामवासना-पूर्ति के लिए असंख्य जनता की बहू-बेटियों को बलपूर्वक अपहृत कर लिया जाता था । अबोध जनता को अपनी शक्ति का और राजा के कर्तव्य का बोध नहीं था । पूरा समाज जड़ था। महामाया जनता की इस जड़ता को तोड़कर चेतना का प्रसार करती है । वह जनता को संगठित होकर एक ओर सीधे-सीधे सामंतवाद के आततायी शासन के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान करती है तो दूसरी ओर बाहरी शक्तियों के आक्रमण से देश की रक्षा का गुरुत्व दायित्व स्वीकार करने का आग्रह भी करती है, जो उपन्यास को

आधुनिकबोध से जोड़ता है। धर्म संबंधी शास्त्रविहित रूढ़ नियमों को अपने समय के परिपेक्ष्य में अव्यावहारिक बताते हुए एक ओर अवधूत अघोर भैरव बाणभट्ट को समझाते हैं कि - "तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं ; जो तेरे भीतर मोहन है उसे भुलाने को कहते हैं ; जिसे तो पूजता है उसे छोड़ने को कहते हैं । . . . देख बाबा, भटकता न फिर ! इस ब्रह्मांड का प्रत्येक अणु देवता है । देवता ने जिस रूप में तुझे सबसे अधिक मोहित किया है, उसी की पूजा कर ।" तो वहीं दूसरी ओर महामाया भैरवी भी भट्टिनी से कहती है - "गुरु ने मुझे बताया है कि नारी की सफलता पुरुष को बांधने में है और सार्थकता उसको मुक्त करने में । सारा जीवन मैं इसी पर विश्वास करके चलती रही हूँ। जप-तप, साधना-भजन सबका एक ही लक्ष्य रहा है - सार्थकता ! त्रिपुरभैरवी का साक्षात्कार अभी तक तो नहीं हुआ बेटी, आगे की बात गुरु जाने ! पर तूने सत्य को देखा है। तेरी बात ठीक हो सकती है।"

बीज शब्द : आत्मकथा, आधुनिक-बोध

'बाणभट्ट की आत्मकथा', डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा रचित सन् 1946 ई. की रचना है। इस कृति का आरम्भ हिंदी और संस्कृत मिश्रित वाक्य - "अथ बाणभट्ट की कथा लिख्यते" से होता है । तत्पश्चात् बड़े ही सहज रूप में आत्मकथात्मक प्रविधि में कथा इस प्रकार आगे बढ़ती है - "यद्यपि बाणभट्ट नाम से ही मेरी प्रसिद्धि है, पर यह मेरा वास्तविक नाम नहीं है ।" उक्त रचना का शीर्षक पढ़ते ही इसमें प्रयुक्त 'आत्मकथा' पद एवं इसकी आत्मकथात्मक प्रविधि से प्रथम दृष्टया इस अर्थ की प्रतीति होती है कि यह रचना संस्कृत के महान लेखक बाणभट्ट की 'आत्मकथा' या उसका हिन्दी अनुवाद है। लेकिन वास्तव में यह रचना संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक बाणभट्ट की आत्मकथा का हिन्दी अनुवाद नहीं है। 'आत्मकथा' वह विधा है, जिसमें कोई व्यक्ति अपनी जीवन-कथा स्वयं लिखता है, परंतु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के कथामुख में लेखक ने स्वयं लिखा है - "जो कथा दी हुई है, वह दीदी का अनुवाद है और फुट नोट में जो पुस्तकों के हवाले दिए हुए हैं वह मेरे हैं।"[1] रचना के अंत में उपसंहार के अंतर्गत भी लेखक ने दीदी (मिस कैथराइन) के पत्र के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि उक्त रचना 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नहीं है - "आत्मकथा के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है, मानो वह ऑटोबायोग्राफी हो। ले भला ! तूने संस्कृत पढ़ी है ऐसी ही मेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने। बाणभट्ट की आत्मा शोण-नद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है।"[2] संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक बाणभट्ट के प्रसंग में यह पद (आत्मकथा) इसलिए भी सार्थक सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उस काल में संस्कृत साहित्य में आत्मकथा लिखने का प्रचलन ही नहीं था। वस्तुतः यह पुस्तक डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा रचित एक उपन्यास है। यद्यपि जिसे हम उपन्यास की संज्ञा से अभिहित कर रहे हैं, द्विवेदी जी ने अपनी इस रचना को आत्मकथा की संज्ञा दी है।

अब हम 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में 'आधुनिक-बोध' का अनुसंधान करते हैं, लेकिन इससे पहले हमें यह समझना आवश्यक है कि आधुनिक-बोध क्या है? आधुनिक-बोध को समझने के लिए हमें बोध का आशय जानना होगा । "बोध का संबंध उस विमर्श-शक्ति से है, जो विवेक और बुद्धि से नियत है अर्थात् ज्ञान-स्वरूप और कर्म-स्वरूप है । बोध का लक्ष्य कर्म की स्वतंत्रता है। स्वातंत्र्य-शक्ति से ही समाज-हित संभव है।"[3] प्रायः सभी समाजों में सामान्य हितों को ध्यान में रखते हुए समय और परिस्थिति के अनुसार कुछ नियम-सिद्धांत निर्धारित किये जाते हैं, जिसकी सीमाओं में उस समाज के सभी सदस्यों को अपने कार्य-व्यवहार करने होते हैं । धीरे-धीरे ये नियम रूढ़ हो जाते हैं, जिससे समय के साथ इनकी उपयोगिता कम होने लगती है । कभी-कभी तो ये रूढ़ नियम जीवन में असुरक्षा और असंतोष का बड़ा कारण भी बन जाते हैं । ऐसे समय आधुनिक-बोध अस्तित्व में आता है, जब समय-परिवर्तन के साथ परिस्थितियों में परिवर्तन होता है और परिवर्तित परिस्थिति में मनुष्य की आवश्यकताओं में परिवर्तन होता है, इसलिए नयी परिस्थिति में पुराने मूल्य-

सिद्धांत-नियम व्यक्ति के जीवन में अवरोध उत्पन्न करने लगते हैं । वस्तुतः आधुनिक-बोध मनुष्य की उस मानसिक स्थिति को कहते हैं, जिसमें कोई व्यक्ति परिवर्तित परिस्थिति की आवश्यकता के अनुरूप अपने विवेक का आधार लेकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पुराने मूल्यों-सिद्धांतों की प्रासंगिकता की जाँच-परख करके पुराने मूल्यों में संशोधन करता है अथवा नए मूल्य विकसित करता है और मनुष्य मात्र को समान दृष्टि से देखकर उसे परतंत्रता से मुक्ति (चाहे वह परतंत्रता दैवी अंधश्रद्धा के संदर्भ में हो अथवा मानवी अत्याचार और शोषण के संदर्भ में हो) दिलाने का प्रयास करता है । साथ ही अपने परिवेश और जीवन के प्रति एवं जीवन की इहलौकिक आवश्यकताओं के प्रति यथार्थपरक दृष्टिकोण रखता है।

डॉ. गो.रा.कुलकर्णी के शब्दों में "वह एक ऐसी जीवन दृष्टि है, जो जीवन के शाश्वत को प्राप्त करने में प्रयत्नशील है । वह सभी पूर्व स्थापित मान्यताओं और मूल्यों की परीक्षा तथा शोधन आत्मसाक्ष्य के आधार पर करती हैं । उसमें वैज्ञानिकता तथा विवेकता का आग्रह है । अतः वह बाह्य साक्ष्य पर अधिष्ठित धर्म, ईश्वर, नीति अथवा किसी भी मतवाद को अस्वीकार करती है। उसके लिए कोई अंतिम सत्य नहीं है।"[4] इस दृष्टि से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जब कुमार कृष्णवर्द्धन भट्टिनी और निपुणिका को राजकोप से बचाने के लिए सत्य को परिभाषित करते हुए लोक के आत्यंतिक कल्याण से जोड़ते हैं, तब हम वहाँ आधुनिक-बोध पाते हैं। कुमार कृष्णवर्द्धन सत्य को स्पष्ट करते हुए बाणभट्ट से कहते हैं - "सत्य इस समाज-व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है। तुम उसे पहचानने में भूल न करना । इतिहास साक्षी है कि देखी-सुनी बात को ज्यों-का-त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोक का आत्यंतिक कल्याण होता है। ऊपर से वह जैसा भी झूठ क्यों न दिखाई देता हो, वही सत्य है। तुम्हें देवपुत्र-नंदिनी की सेवा इसलिए नहीं करनी है कि देवपुत्र-नंदिनी तुम्हारी दृष्टि में पूज्य और सेव्य हैं, बल्कि इसलिए कि उनकी सेवा द्वारा तुम लोक का आत्यंतिक कल्याण करने जा रहे हो। ... लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो, वही सत्य है। आचार्य आर्यदेव ने सबसे बड़े सत्य को भी सर्वत्र बोलने का निषेध किया है। औषध के समान अनुचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर सत्य भी विष हो जाता है। हमारी समाज-व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें सत्य अधिकतर स्थानों में विष का काम करता है।"[5] यहाँ हम पाते हैं कि सत्य का निरीक्षण-परीक्षण और आलोचना की कुमार की अपनी विधि है, जिसकी सहायता से वे प्रत्येक बात को परखते हैं और खरी उतरने पर स्वीकारते हैं, जोकि आधुनिक-बोध के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। आधुनिक-बोध अपनी प्रकृति में एक गत्यात्मक अवधारणा है । इसका प्रादुर्भाव एवं विकास तभी देखे जाते हैं जब कोई अनुभव अथवा क्रियाकलाप अथवा विचार रूढ़ होकर अपना नकारात्मक प्रभाव समाज पर डालने लगता है। डॉ. विपिन कुमार अग्रवाल के अनुसार आधुनिक-बोध "मूलतः खंडित घटना है जिसका बीते समय की घटनाओं से बहुत दूर का ही संबंध है।"[6] यहाँ यह कहना अपेक्षित होगा कि अतीत की घटनाओं का अध्ययन करके हमें उन घटनाओं को जीवित रखना होगा जो आज के संदर्भ में भी मानव हित में वृद्धि करें।

डॉ.जगदीश चंद्रगुप्त कहते हैं कि "यदि आधुनिकता की कोई सार्थकता है तो वह मानवीयता संकलित विशिष्ट युग-बोध में ही है जिसके लिए विज्ञान की अपेक्षा ऐतिहासिक पद्धति का ज्ञान अधिक अपेक्षित है।"[7] इस दृष्टि से जब हम 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी का इस उपन्यास की रचना करने का उद्देश्य भारत के अतीत वैभव-गौरव का चित्र प्रस्तुत करना नहीं था, बल्कि इस उपन्यास के सृजन के पीछे उनका उद्देश्य ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन युगीन जीवन के आंतरिक यथार्थ को उद्घाटित करना था। जिस समय द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखी थी, उस समय भारत स्वतंत्र नहीं था और द्वितीय विश्वयुद्ध अपने चरम पर था। द्विवेदी जी की चेतना में यह राष्ट्र के लिए एक बड़ा संकट था, जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में परोक्ष रूप से हर्षवर्धन काल के राष्ट्र-संकट के रूप में की है। इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भारत में विदेशी आक्रमणकारियों

की सफलता का प्रमुख कारण सामान्य जनता की राजनीतिक उदासीनता या तटस्थता, हिंदू समाज का अनेक जातियों में विभाजन तथा निरंतर बढ़ता वर्ग भेद था। इस काल की जनता को इस बात का बोध नहीं था कि विदेशी आक्रमणकारियों से युद्ध में उनकी कोई भूमिका हो सकती है। युद्ध क्षत्रियों का व्यवसाय तो बहुत पहले से ही माना जाता था, लेकिन धीरे-धीरे यह मान्यता कट्टर संकीर्णता में परिणत होती गई और युद्ध करना केवल राजपूतों का कार्य माना जाने लगा । इस उपन्यास में कथा का आधार महाराज हर्षवर्धन के एक छोटे कालखंड को बनाया गया है, जब पश्चिम से हूणों के आक्रमण की संभावना बनी हुई थी। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में इस संभावना को औपन्यासिक प्रसंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रसंग में द्विवेदी जी का आधुनिक-बोध वहाँ व्यक्त हुआ है, जब महामाया भैरवी देश के सामान्य युवाओं को देश के वृद्धों, बालकों, बेटियों, बहुओं की रक्षा करने के लिए प्रेरित करते हुए उन्हें उनके दायित्व का बोध कराती है । कुमार कृष्णावर्धन, ग्रहवर्मा, भर्वुशर्मा और लोरिकदेव आदि भारत को हूणों के आक्रमण से बचने के लिए पश्चिमोत्तर सीमांत के प्रतापी शासक तुवरमिलिंद जैसी किसी केंद्रीय राजशक्ति की भूमिका को आवश्यक मानते हैं - "पुरुषपुर से सामवेद की कौथुमी शाखा का अध्यायी जैमिनी गोत्रोत्पन्न कान्यकुब्ज भर्वुशर्मा ब्राह्मण और श्रमणों के नाम पर देव मंदिरों और विहारों के नाम पर, स्त्रियों और बालकों के नाम पर समस्त आर्यावर्त के निवासियों को आवेदित करता है कि भाइयों फिर प्रत्यंत दस्यु आ रहे हैं । विषम समय-विजयी वाह्लीक-विमर्दन प्रत्यंत-बाड़व अज्ञात-प्रतिस्पर्धि-विकट देवपुत्र तुवरमिलिंद ने प्रत्यंतो को आज तक रोक रखा था । आज देव मंदिरों और विहारों के रक्षक, स्त्रियों और बालकों के मानदाता, ब्राह्मणों और श्रमणों की आश्रय भूमि देवपुत्र विषम शोक-सागर में निमग्न है। . . . कौन है, जो देवपुत्र का इस शोक-सागर से उद्धार करेगा ? कौन है, जो प्रत्यंत दस्युओं के उत्पाटन में फिर से निमित्त बनेगा ?" . . . वृद्ध सभापति ने मेघ गंभीर स्वर में घोषणा की - आर्य सभासदों ! आचार्य भर्वुपाद के प्रचारित पत्र को स्थाणीश्वर का प्रत्येक नागरिक पढ़ चुका है । दुर्दमनीय म्लेच्छवाहिनी गिरिवर्त्म को पार करने की चेष्टा कर रही है। उत्तरापथ के नगर और ग्राम, देवमंदिर और विहार, ब्राह्मण और श्रमण, वृद्ध और बालक, बेटियाँ और बहुएँ आज किसी प्रतापी नरपति-शक्ति के आश्रय में ही सुरक्षित रह सकती हैं।" [8] परन्तु महामाया भैरवी इसका विरोध करते हुए एक जनसभा को संबोधित करती हुई कहती है -"भर्वुपाद का पत्र पौरुषहीनता का नग्न प्रचारक है । वह पत्र आर्यावर्त की भावी पराजय का अग्रदूत है। आप कहते हैं कि उत्तरापथ के ब्राह्मण और श्रमण, वृद्ध और बालक, बेटियाँ और बहुएँ किसी प्रचंड नरपति-शक्ति की छाया पाए बिना नहीं बच सकती। आर्य सभासदों! उत्तरापथ के लाख-लाख नौजवानों ने क्या कंकण-वलय धारण किया है ? क्या वह वृद्धों और बालकों, बेटियों और बहुओं, देव मंदिरों और विहारों की रक्षा के लिए अपने प्राण नहीं दे सकते ? क्या इस देश के विद्वानों में स्वतंत्र संगठन बुद्धि का विलोप हो गया है ?"[9] वास्तव में यहाँ महामाया भैरवी का सभासदों, विद्वानों और लाखों नौजवानों से प्रश्न नहीं है, बल्कि उपन्यास-लेखक का देश के बुद्धिजीवियों और नौजवानों को अपनी स्वतंत्रता के साथ वृद्धों, बालकों, बेटियों और बहुओं की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देने का आह्वान है। उपन्यास में महामाया युवकों को देवपुत्रों और महाराजाधिराजों की आशा छोड़कर संगठित होकर आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए प्रेरित करते हुए घोषणा करती है - 'अमृत के पुत्रो! मृत्यु का भय माया है। संगठित होकर म्लेच्छवाहिनी का सामना करो! देवपुत्रों और महाराजाधिराजों की आशा छोड़ो । समस्त उत्तरापथ की लाज तुम्हारे हाथों में है । दुर्द्धर्ष मलेच्छवाहिनी का सामना राजपुत्रों की वेतनभोगी सेना नहीं कर सकेगी। क्या ब्राह्मण और क्या चांडाल, सबको अपनी बहू-बेटियों की मान-मर्यादा के लिए तैयार होना होगा। मैं भविष्य देख रही हूँ। अमृत के पुत्रो, बड़ा दुर्घट काल उपस्थित है। राजाओं, राजपुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने रहने का निश्चित परिणाम पराभव है। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया है, यह अशुभ लक्षण है। अगर तुम आर्यावर्त्त को बचाना चाहते हो, तो प्राण

देने के लिए तत्पर हो जाओ । धर्म के लिए प्राण देना किसी एक जाति का पेशा नहीं है. वह मनुष्य-मात्र का उत्तम लक्ष्य है। अमृत के पुत्रो, न्याय जहाँ से भी मिले, वहाँ से बलपूर्वक खींच लाओ। यदि तुम नहीं समझते कि न्याय पाना मनुष्य का धर्मसिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है, तो भारतवर्ष का भविष्य अंधकार से आच्छन्न है। अमृत के पुत्रो, म्लेच्छवाहिनी पहली बार नहीं आ रही है, अंतिम बार भी नहीं आ रही है। तुम यदि आज तुवरमिलिद और श्रीहर्षदेव की आशा पर बैठे रहोगे, तो संभवतः आज यह विपत्ति टल जाए; परंतु कल नहीं टलेगी। तुवरमिलिद और श्रीहर्षदेव सदा नहीं रहेंगे; परंतु तुम्हें सदा रहना है। . . . अपने-आपको बचाओ, न्याय के लिए मरना सीखो, ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक एक हो जाओ ; चट्टान की तरह दुर्भेद्य एक। यही बचने का उपाय है।"[10]

इस प्रसंग में लेखक का आधुनिक-बोध ही महामाया भैरवी के विद्रोह के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। महामाया भैरवी का विद्रोह उस सामंती शासन-व्यवस्था के विरुद्ध है, जहाँ स्त्री राजाओं और सामंतों के अंतःपुर की शोभा बढ़ाने और वासनापूर्ति का साधन-मात्र बनकर रह गई थी । कामवासना की पूर्ति के लिए असह्य निर्बल-निर्धन जनसामान्य की बहू-बेटियों का बलपूर्वक अपहरण कर लिया जाता था । अबोध जनसाधारण के मनोमस्तिष्क में यह धारणा गहराई से बैठी हुई थी कि राजा देवता का रूप होता है और उसकी शक्तियाँ ईश्वरीय होती हैं, इसलिए जनता क्रूर निर्दयी सामन्ती शासन-व्यवस्था में चल रहे कुत्सित कार्य-व्यापारों का विरोध नहीं कर पाती थी और समस्त अनाचार अबाध गति से चल रहा था। सारा समाज जड़ हो गया था। महामाया की वाणी तत्कालीन समाज में व्याप्त इस जड़ता को तोड़कर जनता में चेतना का प्रसार करने के लिए आतुर दिखाई देती है । वह जनता को इस सत्य से परिचित कराती है कि राजा प्रजा की सृष्टि है। वह चाहे तो उसके अस्तित्व को बना या बिगाड़ सकती है। राजा देवोपम नहीं है ; न ही उसकी शक्तियाँ असीम और अनंत हैं । इसलिए जनता को संगठित होकर न सिर्फ राजाओं के क्रूर शासन का विरोध करना चाहिए बल्कि बाहरी शक्तियों के आक्रमण से देश की रक्षा का गुरुतर दायित्व भी स्वीकार करना चाहिए । महामाया की यह वाणी सीधे-सीधे राजा को ईश्वरीय के स्थान पर मनुष्य मात्र के रूप में देखने का आग्रह और सामंतवाद के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान है जो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को आधुनिक-बोध से जोड़ देता है। वस्तुतः महामाया उद्बोधन में तत्कालीन भारत की स्थिति से पीड़ित उपन्यासकार का ही आक्रोश व्यक्त हुआ है, जो ब्रिटिशकालीन भारतीय जीवन में व्याप्त मतभेद, जड़ता, कायरता और निर्णयहीनता से व्यथित था । रमेश कुंतल मेघ के शब्दों में - "हम अपनी आवश्यकताओं को अनुभव करके विद्रोह करते हैं और मुक्ति की ओर अग्रसर होते हैं। अगर यह नहीं करते, तब हम आधुनिकता के असली धर्मी नहीं हैं।"[11] यहाँ हम द्विवेदी जी द्वारा सृजित महामाया को आधुनिक-बोध से युक्त व्यक्तित्व संपन्न आधुनिकता की असली धर्मी कह सकते हैं । वस्तुतः धर्म का अर्थ मानवीयता की ओर से आँख बन्द करके कर्तव्य पालन करना नहीं है। धर्म और अधर्म की बंधी लकीरों पर चलना धर्म का दिखावा है, ढोंग है। आधुनिक-बोध पुराने स्थापित सिद्धांतों-नियमों और व्यवहारों को अस्तित्व में रखने के लिए अपने समय की आवश्यकताओं की कसौटी पर परखकर ही स्वीकार करता है और देखता है कि अमुक सिद्धांत-नियम ने समाज पर किस प्रकार का प्रभाव डाला है। यदि प्रभाव सकारात्मक है तो ग्रहण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में द्विवेदी जी ने इसका कंचुकी वाभ्रव्य के प्रसंग द्वारा अत्यंत प्रभावशाली चित्रण किया है - "इन बीस वर्षों में अवरोध-गृह में न जाने कितनी बालाएँ लाई गई। मैंनै सबका उसी सम्मान के साथ स्वागत किया, जो मौखरियों की कुल-वधू के योग्य हैं। . . . मैंने इस रहस्य को समझने का कभी प्रयत्न नहीं किया। अंतःपुरिकाओं के रहस्य के प्रति जिज्ञासा का भाव कंचुकि-धर्म के विरुद्ध है। मेरे पितृ-पितामहों ने मुझे केवल एक ही शिक्षा दी है, प्राण देकर भी कुल-वधुओं की मान-रक्षा करना। अंतःपुर की मर्यादा का लंघन करने वाले का सर उतार लेना मेरा धर्म है।"[12] कंचुकी का कार्य अंतःपुर की कुलवधुओं की रक्षा करना है, लेकिन दो बार वह इस धर्म-पालन से चूक जाता है । पहली बार वह अपने धर्म का पालन करने में तब अक्षम रहा था , जब मौखरि राजा ग्रहवर्मा के अंतःपुर से उसकी रानी

महामाया सन्यास धारण कर निकल गई थी और वाभ्रव्य ने उसे जाने की अनुमति दे दी थी। कंचुकी वाभ्रव्य मौखरियों के अंत:पुर की मान-रक्षा न कर सकने के अपने इस कृत्य को धर्म-विरुद्ध समझकर क्षोभग्रस्त था। उस समय धूम्रेश्वरी मंदिर के योगी ने कंचुकी से कहा था - "जिस दिन तुझे मालूम हो जाएगा कि जिसे तू धर्म समझ रहा है वह अधर्म है और जिसे अधर्म समझ रहा है वह धर्म है, उस दिन तू त्रिपुरसुंदरी का साक्षात्कार पा सकेगा।"[13] वाभ्रव्य निपुणिका से कहता है - "मैं आज स्पष्ट देख रहा हूँ कि जितने बंधे-बंधाए नियम और आचार हैं, उनमें धर्म अँटता नहीं। वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है। मैं जिनको धर्म समझता रहा वे सभी समय और सभी अवस्था में धर्म ही नहीं थे, जिन्हें अधर्म समझता रहा वे सभी समय और सभी अवस्था में अधर्म नहीं कहे जा सकते।"[14]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट स्त्री को भोग्या अर्थात् कामवासना तृप्त करने की वस्तु नहीं, बल्कि देव मंदिर मानता है। इसी भाव-प्रेरणा से बाणभट्ट अपहृत राजकुमारी भट्टिनी को हर्षवर्धन के एक सामंत के अंत:पुर से निकालकर उसकी रक्षा करता है। बाणभट्ट को भट्टिनी और निपुणिका को राजकोप से बचाने के लिए उन्हें लेकर हर्षवर्धन के भाई और महासंधिवि ग्रहिक कुमार कृष्णवर्द्धन के सहयोग से मगध के लिए प्रस्थान करना पड़ता है। इस बीच अनेक घटनाएँ घटित होती हैं, जो भट्टिनी के मन में बाणभट्ट के प्रति प्रेम का कारण बनती हैं। फलस्वरूप इस साहचर्य से भट्टिनी के मन में बाणभट्ट के प्रति अनुराग का उदय होता है। वह बाणभट्ट के प्रति अपने अनुराग को व्यक्त करते हुए महामाया को बताती है - "क्या बताऊँ, आर्य ! जिस दिन भट्ट ने मुझे प्रथम वाक्य कहा था, उस दिन मेरा नवीन जन्म हुआ ; उस दिन उषाकाल ने मेरे संपूर्ण जीवन को सौभाग्य से भर दिया था। मैंने उस दिन अपनी सार्थकता को प्रथम बार अनुभव किया।. . . मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि मेरे भीतर एक देवता है, जो आराधक के अभाव में मुरझाया हुआ छिपा बैठा है। मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि भगवान ने नारी बनाकर मुझे धन्य किया है।"[15] बाणभट्ट के अवचेतन में भी भट्टिनी के प्रति अपार अनुराग है, किंतु वह चेतन स्तर पर कहीं व्यक्त नहीं होता है। वह उसके सौंदर्य से बार-बार अभिभूत होता है; उसे देखते ही उसके हृदयस्थल से कविता की अविरल धारा बहने लगती है, लेकिन बाणभट्ट स्वयं भी यह नहीं जानता कि भट्टिनी के प्रति उसके मन में प्रेम है। यद्यपि भटनी के लिए प्राण भी दे देने में उसे कोई द्विधा नहीं है, तथापि भारतीय संस्कृति के अनुरूप - (मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स पंडित:।। अर्थात् जो मनुष्य पर-स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और समस्त प्राणिमात्र को स्वयं के समान देखता है, वही पंडित (विद्वान) है।) बाणभट्ट चेतना के स्तर पर भट्टिनी को श्रद्धा की दृष्टि से ही देखता है। पहली बार अवधूत अघोर भैरव भट्टिनी के प्रति बाणभट्ट के प्रेम का संकेत देते हैं, जो निम्नलिखित संवाद के माध्यम से स्पष्ट है – "मान ले कि एक निशाचर अचानक आकर तुझे धर दबाए और अपने बाएँ हाथ में तेरी स्वामिनी को और दाहिने हाथ में महावराह की मूर्ति को लेकर बोले कि तू अपना प्राण देकर किसी एक को बचा सकता है, तो तू किसे बचाने के लिए प्राण देना पसंद करेगा?" "मैं दोनों को बचाना चाहूँगा।" बाबा क्रोध से काँप उठे- "फिर झूठ बोलता है, जन्म का पातकी, कर्म का अभागा, मिथ्यावादी, पाखंड!! महावराह को बचाएगा तू, दंभी !" मैं हतचेष्ट, निर्वाक् स्तब्ध ! बाबा का क्रोध वास्तविक नहीं था। मेरी परीक्षा लेने के लिए ही उन्होंने यह रूप धारण किया था। मैं विचलित हो गया। मेरी इच्छा के विरुद्ध जैसे किसी ने मुझसे कहलवा लिया -"प्राण देकर मैं भट्टिनी को बचाऊँगा।" बाबा हँसने लगे। उनकी अर्द्धमुद्रित आँखें चमक उठीं। बोले, "अभागा, सारी ज़िंदगी में तूने यही एक बात सच कही है। क्यों रे, लजाता है? दुत् पगले, उस मायाविनी के जाल में फँस रहा है? क्या बुरा है रे, त्रिपुर सुंदरी ने जिस रूप में तेरे मन को लुभाया है, उसे साहसपूर्वक स्वीकार क्यों नहीं करता ? तू अभागा ही बना रहेगा, भोले! तेरे मन में महावराह से अधिक पूज्य भावना उस लड़की के प्रति है। है न रे ? फिर झूठ

बोलेगा भाग्यहीन ?" [16] अवधूत अघोर भैरव के साथ संवाद करते हुए बाणभट्ट द्वारा भट्टिनी के प्रति अपने अनुराग की स्वीकारोक्ति परोक्षतः हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी के आधुनिक-बोध को प्रकट करती है । साथ ही इस तथ्य को भी सिद्ध करती है कि "आधुनिक-बोध संस्कृति के प्रति मोह-मुक्त जागरूक दृष्टि और वृत्ति है ; संस्कृति उससे टूटती नहीं, अगले संचरण की दिशा और गति पाती है । संस्कृति के अतीत-स्वप्नलोक से हटाकर आधुनिक-बोध हमें यथार्थ में लाता है।"[17] और "व्यक्ति की नई चेतना तथा नई धारणा का उन्मेष करता है, जिससे मनुष्य के स्व के विघटन की समाप्ति तथा आत्म-आधिपत्य की सिद्धि होती है।"[18] डॉ. नरेंद्र मोहन के शब्दों में - "यह मुख्य रूप से एक ऐसी मानसिकता है जो किसी एक मूल्य धारणा या सिद्धांत को स्वीकारने से पहले उसे जाँचने-पड़तालने पर बल देती है ।"[19] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के महान संत और सच्चे साधक अवधूत अघोर भैरव ऐसी मानसिकता के वाहक हैं जो शास्त्रविहित किसी धारणा या सिद्धांत को स्वीकारने से पहले उसे जाँचते-परखते हैं। शास्त्रों पर प्रश्न उठाते हुए वे बाणभट्ट से कहते हैं - "देख रे, तेरे शास्त्र तझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है, उसे दबाने को कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भुलाने को कहते हैं; जिसे तू पूजता है, उसे छोड़ने को कहते हैं। . . . इस ब्रह्मांड का प्रत्येक अणु देवता है । देवता ने जिस रूप में तुझे सबसे अधिक मोहित किया है, उसी की पूजा कर!"[20] यही आधुनिक-बोध हम भट्टिनी और महामाया के उस वार्तालाप में भी पाते हैं , जिसमें भट्टिनी कहती है कि किस शब्द का कैसा प्रयोग होना चाहिए, यह तो उसे ज्ञात नहीं है, परन्तु भट्ट की वाणी सुनने के बाद उसने पहली बार अनुभव किया कि नारी-शरीर केवल भार नहीं है, केवल मिट्टी का ढेला नहीं है - अपितु यह उससे बड़ा है । विधाता ने जब उसे बनाया था, तो उनका उद्देश्य उसे दंड देना नहीं था, बल्कि उन्होंने उसको नारी बनाकर उसका उपकार किया था । भट्टिनी के हृदयोद्गार सुनकर थोड़ी देर तक चुप रहने के पश्चात् महामाया भैरवी ने दैवी शक्ति पर मानवीय प्रेम की विजय और मनुष्य की जिजिविषा को श्रेष्ठ स्वीकार करते हुए "एकाएक पराजित की भाँति कहा - क्या जाने क्या बात है बिटिया, गुरु ने मुझे बताया है कि नारी की सफलता पुरुष को बांधने में है और सार्थकता उसको मुक्त करने में। सारा जीवन मैं इसी पर विश्वास करके चलती रही हूँ। जप-तप, साधना-भजन सबका एक ही लक्ष्य रहा है - सार्थकता ! त्रिपुरभैरवी का साक्षात्कार अभी तक तो नहीं हुआ बेटी, आगे की बात गुरु जाने ! पर तूने सत्य को देखा है। तेरी बात ठीक हो सकती है।"[21] इस प्रसंग के माध्यम से अघोर भैरव बाणभट्ट को एवं महामाया भैरवी भट्टिनी को जीवन का मूल मंत्र देते हुए यह कहना चाहते हैं कि इस चराचर जगत में कोई अंतिम सत्य नहीं है । वेद-शास्त्र समय की गति से नहीं बदलते, इसलिए परिवर्तित समय और परिस्थिति में वे अप्रासंगिक हो जाते हैं। जहाँ तक आस्था और विश्वास का प्रश्न है तो वह मनुष्यता के प्रति होना चाहिए।

सारांश यह है कि द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में महाराज हर्षवर्धन के शासनकाल में विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरुप जनता द्वारा भोगे गए असहनीय कष्टों और अमानवीय यातनाओं का सटीक बिम्ब-योजना के माध्यम से अद्वितीय चित्रण किया है। हिन्दी साहित्य में पहली बार हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि को सामाजिक विकास की प्रक्रिया में कैसे उपयोग में लाया जा सकता है । पहली बार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के माध्यम से द्विवेदी जी की इतिहास-दृष्टि से यह बोध हुआ कि इतिहास के विकास और पतन में जनसाधारण की सोच तथा संघर्ष का क्या प्रभाव होता है और उसकी भूमिका का क्या महत्व है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अपने रचनाकालीन सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति को प्रतिबिंबित करने में पूर्णतया समर्थ है, जिसमें जनता की इच्छा-आकांक्षाओं को स्वर देने की शक्ति भी है और साथ ही साथ मानवीय-मूल्यों के प्रति उसका सरोकार भी स्पष्ट है । इस दृष्टि से यह एक सार्थक औपन्यासिक रचना है। उपन्यास में हर्षवर्धन की राजसभा के विख्यात कवि बाणभट्ट के चरित्र को केंद्र में रखा गया है। तत्कालीन

सामंती समाज की जड़ता के विरुद्ध नारी जाति के विद्रोह को संवेदनशीलता के साथ उभारा गया है, जिसमें स्त्री-चरित्र की भूमिका विशेष उल्लेखनीय है। नारी-अस्मिता की रक्षा के प्रति प्रतिबद्धता और मानवीय मूल्य की रक्षा का आह्वान, दैवी शक्ति के सापेक्ष अमानवीय प्रेम को श्रेष्ठ साबित करने के साथ-साथ मनुष्य की जिजिविषा और उसकी इच्छा-आकांक्षाओं को स्वर देने की शक्ति इस उपन्यास में आधुनिक-बोध को अभिव्यक्त करते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में लेखक ने उन सारी गलित वर्जनाओं, रूढ़ियों एवं भ्रांत धारणाओं के प्रति जनता को सचेत और सावधान किया है, जो हज़ारों वर्षों से जनसाधारण के शोषण और दमन से मुक्ति में बाधक बनी हुई थी। इसीलिए यह रचना ऐतिहासिक आख्यान होते हुए भी वर्तमान संदर्भों में अपनी प्रासंगिकता बनाई हुई है।

संदर्भ:

1. द्विवेदी हज़ारीप्रसाद, 1990, पाँचवाँ संस्करण, नौवीं आवृत्ति 2003 (राजकमल पेपरबैक्स), 'बाणभट्ट की आत्मकथा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 10
2. वही, पृ. 234
3. त्यागी, डॉ. कविता, 2014, भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में आधुनिकता, विजय प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ. 27
4. डॉ. कुलकर्णी गो.रा., 'पौराणिक काव्य : आधुनिक संदर्भ' 1978, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, पृष्ठ 41-42
5. द्विवेदी हज़ारीप्रसाद, 1990, पाँचवा संस्करण, नौवीं आवृत्ति 2003, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 82
6. डॉ. अग्रवाल विपिन कुमार : 'आधुनिकता के पहलू' 1972,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 19
7. गुप्त डा.जगदीशचंद्र, 1973, 'नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृष्ठ 20
8. द्विवेदी हज़ारी प्रसाद, 1990, पाँचवा संस्करण, नौवीं आवृत्ति 2003 राजकमल पेपरबैक्स, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ पृष्ठ 122,153
9. वही, पृष्ठ 155
10. वही, पृष्ठ 156-157
11. रमेश कुंतल मेघ, 1969, 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण', अक्षर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, पृ 135
12. द्विवेदी हज़ारीप्रसाद, 1990, पाँचवा संस्करण, नौवीं आवृत्ति 2003 राजकमल पेपरबैक्स, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 219
13. वही, पृ. 222
14. वही, पृ. 224
15. वही, पृ. 110
16. वही, पृ. 63
17. डॉ.वर्मा, धनंजय, आस्वाद के धरातल, पृ. 215
18. मेघ, रमेश कुंतल, 1969, आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण, अक्षर प्रकाशन, दरियागंज - दिल्ली , पृ 246
19. डॉ. मोहन, नरेन्द्र, 1973, आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया, नई दिल्ली , पृ 19
20. द्विवेदी हज़ारीप्रसाद, 1990, पाँचवाँ संस्करण, नौवीं आवृत्ति, 2003, राजकमल पेपरबैक्स, 'बाणभट्ट की आत्मकथा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 63-64
21. वही, पृ. 111

◆असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कॉलेज ऑफ वोकेशनल स्टडीज़,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
मो. - 9999752457

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना: परंपरा और समकालीनता के बीच सेतुबंध का आग्रह

◆रेमीसा सी.यु

शोध सारांश –हिन्दी आलोचना और साहित्येतिहास के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसी विलक्षण विभूति हैं, जिनकी वैचारिक दृष्टि आज भी साहित्यिक विमर्शों को अर्थवत्ता और दिशा प्रदान करती है। यह शोध लेख शुक्ल जी के लेखन, चिन्तन और दृष्टिकोण की इक्कीसवीं सदी के संदर्भ में पुनर्परख की एक नई और आवश्यक पहल है। ऐसे समय में, जब साहित्य अकसर विचारधारा और विमर्शों की उलझनों में खोया प्रतीत होता है और आलोचना अपनी सामाजिक उत्तरदायित्वशीलता को लेकर संशयग्रस्त दिखती है। शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति हमें एक विवेकशील और सामाजिक दृष्टिसम्पन्न आलोचना की सम्भावना से परिचित कराती है। वे केवल साहित्यिक इतिहास के संयोजक नहीं, बल्कि उस जीवंत परंपरा के संवाहक भी हैं, जिसमें साहित्य को मनुष्य और समाज के संघर्षों का ऐतिहासिक और दार्शनिक दस्तावेज़ माना गया।

प्रस्तावना

आचार्य रामचंद्रशुक्ल का साहित्य-दर्शन उस युग में विकसित हुआ जब भारत नवजागरण, औपनिवेशिक प्रभुत्व और सांस्कृतिक पुनराविष्कार की जटिल प्रक्रियाओं से गुज़र रहा था। उन्होंने साहित्य को इतिहास के प्रवाह और सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ते हुए जनमानस की चित्तवृत्तियों को केंद्रीय महत्त्व दिया।'आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुल्क एक युगप्रवर्तक व्यक्ति हैं तो इसलिए कि हिंदी आलोचना पहली बार उनके यहाँ अपने आलोचना नाम को चरितार्थ करती है, मात्र गुण-दोष-कथन अथवा रीतिवादी साहित्यशास्त्र की रूढ़ियों से छूटकर साहित्य तथा काव्य के एक उन्नत और ऊर्जस्वित विवेक के तहत तथा एक गहरी लोकोन्मुखी दृष्टि से संयुक्त होकर न केवल रचना की अंतर्वस्तु और उसके सामाजिक संदर्भों से साक्षात्कार करती है, रचना की साहित्यिक मूल्यवत्ता को उजागर करने के साथ-साथ उसके सामाजिक महत्त्व का भी आकलन करती है।'[1]. उनके लिए रचना केवल सौन्दर्यबोध या भाव-संवेदन नहीं, बल्कि मनुष्य के आत्मबोध और सामाजिक चेतना की ऐतिहासिक अभिव्यक्ति थी। उन्होंने बार-बार यह स्पष्ट किया कि साहित्य तब तक संपूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक वह समाज के संघर्षों, उसकी आकांक्षाओं और उसकी पीड़ाओं को आत्मसात न करे। ऐसे समय में जब वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और सांस्कृतिक विखंडन की शक्तियाँ साहित्य को एक आत्महीन उत्पाद में बदलने की कोशिश कर रही हैं, शुक्ल जी की विचारधारा हमें आलोचना और रचना के बीच पुनः संवाद स्थापित करने की प्रेरणा देती है।

शुक्ल जी को जब हम पढ़ते हैं, तो उनके भीतर एक साधारण आलोचक नहीं, बल्कि एक गहराई से सोचने वाला राष्ट्रभक्त और सामाजिक चिंतक दिखाई देते हैं। उन्होंने जो रास्ता चुना, वह मध्यवर्गीय बौद्धिकता से जुड़ा था, और शायद इसी वजह से वे साम्यवाद या प्रगतिवादी आंदोलनों को आत्मसात नहीं कर पाए, हालाँकि उनके अंतर्मन में इन विचारों की ध्वनि अवश्य थी। उनकी आलोचना में एक पक्षधरता दिखती है - वे सामंती परंपराओं, दरबारी संस्कृति और कृत्रिम रीति पर तीखा प्रहार करते हैं। वे उस काव्य परंपरा के हिमायती नहीं थे, जिसमें समाज की वास्तविक पीड़ा नहीं, बल्कि परछाइयाँ और कल्पनाएँ बसी हों। शुक्लजी का आग्रह था कि साहित्य केवल कल्पना नहीं, समाज की धड़कन भी हो - और यही आग्रह उन्हें भक्ति-काव्य की नैतिकता के साथ आधुनिकता की समस्याओं को जोड़ने की कोशिश की ओर ले जाता है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी कहते हैं –

'शुक्लजी ने अपने समय की एक अर्धजाग्रत साहित्य चेतना को दिशा-ज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे – आगे चले और मंजिल तय किए। अपने उच्चकोटि के अध्ययन और व्यक्तित्व की छाप वे साहित्य

पर छोड़ गए हैं।'[2].

शुक्ल जी की देशभक्ति केवल भावनात्मक उद्घोष नहीं थी - वह विचार और मूल्य की एक लंबी यात्रा थी, जो राजभक्ति की पारंपरिक छाया से निकलकर जनता की चेतना तक पहुँची। वे अंग्रेज़ी शासन के विरोधी थे, परन्तु उनके विरोध का मार्ग गांधीवादी आदर्श से अलग था; वे सीधे टकराव के पक्षधर थे, विनम्र याचक नहीं। फिर भी, उनका योगदान अनुपम है। वे एक ऐसे विचारक हैं, जो परंपरा से संवाद करते हुए उसे आलोचना में रूपांतरित करते हैं। वे एक ऐसे लेखक हैं जो इतिहास को केवल कालक्रम नहीं, बल्कि चेतना के प्रवाह के रूप में देखते हैं। वे एक राष्ट्रप्रेमी हैं, जिनकी दृष्टि में देश सिर्फ भूमि नहीं, जनता की आत्मा है।

शुक्ल जी की देशभक्ति किसी संकीर्ण सीमारेखा में बंधी नहीं थी, बल्कि उसमें एक व्यापक वैश्विक चेतना समाहित थी। वे अपने देशवासियों को अन्य देशों की वैज्ञानिक और बौद्धिक उपलब्धियों से जुड़ने के लिए प्रेरित करते थे।

'शुक्लजी यूरोप का अन्धानुकरण करने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन यूरोप की उन्नत विचारधारा की सहायता से अपना विकास करने के पक्ष में अवश्य थे।'[3] उन्होंने अंतरराष्ट्रीय विचारों का खुले मन से स्वागत किया, किंतु अंधानुकरण के सख्त विरोधी थे। उनका मानना था कि भारत को अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा करते हुए ही वैश्विक ज्ञान-परंपरा से संवाद करना चाहिए। उन्होंने आत्मगौरव की भावना में इतने रच-बस चुके थे कि उन्होंने बाहरी क्रांतियों - चाहे वे पूँजीवादी हों या समाजवादी - को भारतीय समाज के आत्मिक विकास के अनुरूप नहीं माना। वे पश्चिमी विचारों को भारतीय अनुभव की कसौटी पर कसते थे और हर प्रकार की बौद्धिक हीनता को नकारते हुए, विवेकपूर्ण परीक्षण की माँग करते थे। उनके विचार में घर, गाँव, नगर और अंततः देश के प्रति अनुराग - ये सब प्रेम के उस शुद्ध रूप की विस्तृत अभिव्यक्तियाँ हैं। इसीलिए वे देशप्रेम की जड़ों को इतिहास की गहराइयों में खोजते थे। जब देश विदेशी शासन के विरुद्ध जागरण की स्थिति में था, तब शुक्ल जी ने जनमानस को अपने गौरवपूर्ण अतीत से जोड़ने का आग्रह किया। उनके अनुसार, प्राचीन नगर, सांस्कृतिक धरोहरें, वीर स्मारक और पुरातात्विक चिन्ह हमारे सामूहिक स्मृति-बोध के प्रतीक हैं, जिनकी रक्षा की तीव्र भावना हमारे भीतर तब उत्पन्न होती है जब उनके प्रति श्रद्धा और आत्मीयता विकसित होती हैं।

शुक्लजी हालाँकि गोचर संसार पर केंद्रित रहते हैं, पर वे भी व्यक्त को अव्यक्त का रूप मानते हैं। इस गोचर जगत को भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था के ढाँचे में देखा जाता रहा है - और यही वर्ण-व्यवस्था पुराणों में सामाजिक संगठन के रूप में संरक्षित है। 'विश्व-प्रपंच' नामक ग्रंथ की विस्तृत भूमिका में आचार्य शुक्ल जी पश्चिमी विकासवाद की तुलना भारतीय तत्त्वज्ञान से करते हैं - और वह भी किसी हीनताबोध से नहीं, बल्कि गर्वपूर्वक, जैसे कोई ऋषि अपनी परंपरा को पुनः पहचानता हो। वे भारतीय उपनिषदों, पुराणों, न्याय-योग और सांख्य जैसे दर्शन-प्रणालियों की अंतर्दृष्टियों से विकासवाद की कसौटी पर परीक्षण करते हैं और संदर्भों सहित पाद-टिप्पणियों के माध्यम से अपनी बात को पुष्ट करते हैं।

शुक्ल जी साहित्य की आलोचना को केवल रचनाओं की सूची या भावों की विवेचना नहीं मानते, बल्कि उसे इतिहास की सामाजिक-सांस्कृतिक धारा में प्रवाहित एक जीवित संवाद मानते हैं। उनके लिए जनता की चित्तवृत्ति कोई रहस्यमय तत्त्व नहीं, बल्कि राजनीति, समाज, धर्म और संप्रदाय के समवेत प्रभाव से उत्पन्न वह सामूहिक चेतना है, जो किसी युग विशेष की अनुभूति और मूल्यबोध को आकार देती है।

शुक्ल जी का आग्रह होता है कि साहित्य के विश्लेषण में उस युग के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ को गंभीरता से शामिल किया जाए - यह समझना आवश्यक है कि किसी समय विशेष में जनता की आत्मा को संवेदनशील और सक्रिय बनाने वाली शक्ति कहाँ से उत्पन्न हुई। उनकी आलोचना-दृष्टि साहित्य को एक जीवंत सामाजिक प्राणी के रूप में देखती है, जो समाज और समय के साथ निरंतर रूपांतरित होता रहता है। 'मनुष्य के शरीर जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर होंगे। काव्य – कला की पूरी

रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।'[4] वे मानते हैं कि आलोचना का कार्य केवल साहित्यिक सौंदर्य की व्याख्या करना नहीं, बल्कि उसमें उपस्थित सामाजिक ऊर्जा, मानसिक प्रवृत्तियों और सांस्कृतिक संकेतों को समझना भी है। इसीलिए वे साहित्य-इतिहास लेखक को एक सांस्कृतिक अन्वेषक की भूमिका में रखते हैं - ऐसा व्यक्ति जो साहित्यिक रूपों, सामाजिक मनोवृत्तियों और काव्य-धाराओं के बीच के आपसी संवाद को पहचान सके। यह संवाद ही साहित्य की आत्मा है, और उसकी पहचान से ही आलोचना की सार्थकता संभव है।

शुक्लजी के साहित्य-विश्लेषण में एक प्रमुख विडंबना यह दिखती है कि वे कविता की ऐतिहासिक धारा को समझने में जितनी गहराई और निष्ठा दिखाते हैं, उतनी सामाजिक इतिहास धारा को पहचानने में नहीं दिखा पाते। काव्य के प्रवाह को वे जिस उत्साह से आत्मबोधित करते हैं, वही उत्साह जब सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं की ओर मुड़ता है, तो कहीं न कहीं फीका पड़ जाता है। उनका 'चित्तवृत्ति संचय' अथवा 'लोक संग्रह' अंततः कविताओं में रूपायित अनुभवों तक सीमित रह जाता है। समाज के विविध रूपों की पहचान या तो केवल अनुभववाद तक सिमट जाती है या फिर कवियों द्वारा सौंदर्यबोध में ढाले गए संवादों में ही उसे पर्याप्त मान लिया जाता है। इससे उनके काव्यबोध में एक प्रकार का एकांगी भाव उत्पन्न हो जाता है - वह समाज के नित्य रूप के सम्पूर्ण मूल्यांकन की जगह, कविता की साक्षात्कारी शक्ति में ही केंद्रित हो जाता है।

आधुनिक दृष्टि में इतिहास केवल बीते हुए समय की पुनरावृत्ति नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष जगत से जड़े जीवन-संकेतों का सिलसिला है ।'साहित्य की परंपरा के सम्यक प्रस्तुतीकरण केलिए वे उस परंपरा का सही इतिहास लिखना चाहते थे, एक ऐसा इतिहास, जो इतिहास के विवेक या जिसे इतिहास – दृष्टि कहते हैं उसके तहत सामने आए किसी देश या किसी भाषा की जनता की चित्तवृत्ति का सही प्रतिबिम्ब बनकर आए, जिसके माध्यम से उस जनता की भाषा तथा उसके सामाजिक जीवन की संगति में सामने आनेवाली साहित्यिक रचनाशीलता का सही जायजा हो सके।'[5] शुक्ल जी की आलोचना पद्धति इस तथ्य का प्रमाण है। उन्होंने लोक की नब्ज में राजनीतिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक विषमता से मुक्ति की कामना को पढ़ने का प्रयास किया। वे हिन्दी साहित्य को केवल भावनाओं का उद्गार नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का माध्यम मानते थे। उनके लिए साहित्य का लक्ष्य आत्मरति नहीं, समाज और राष्ट्र का गहरा संवाद था। उन्होंने साहित्य में मनुष्य को केंद्र में रखा - वह मनुष्य जो कर्मशील है, विचारशील है और समाज की ज़िम्मेदारियों को समझता है। उनके चिंतन में अब ब्रह्म नहीं, बल्कि जागरूक नागरिक की छवि उभरती है। वे नये मनुष्य की पक्षधरता करते हैं और यथार्थ को केवल बौद्धिक नहीं, बल्कि भौतिक क्रियाओं से भी जोड़ते हैं। विज्ञान, राजनीति और अर्थव्यवस्था के बदलते रूपों को वे साहित्य के मूल्यांकन का हिस्सा बनाते हैं। उनकी रचनात्मक दृष्टि में रस, भाव और ज्ञान के प्रतिमान भी नये सांचे में ढलते हैं - और इसी से वे तुलनात्मक अनुशीलन और आलोचना की आधुनिक शैली गढ़ पाते हैं।

शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि अतीत को विवेक से देखती है। उन्होंने अनुभव किया कि परंपरा और जातीयता के नाम पर अब इतिहास को संकुचित करके प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे अतीत की विविधताओं से भरी विकासमान प्रक्रिया को या तो भुला दिया गया या मिथ्या गौरव में खो दिया गया। उन्होंने इसे आलोचनात्मक समझ के लिए खतरा माना। उनके विचार में इतिहास का मूल्य वैज्ञानिक पद्धति से किया जाना चाहिए, न कि वैयक्तिक सनकों और विचारधारात्मक आग्रहों से। वर्तमान समय में जब हर किसी ने अपनी-अपनी डफली बजा रखी है, शुक्ल जी की विचारधारा एक संयमित, वस्तुपरक और संतुलित अनुशीलन की माँग करती है। उन्होंने साहित्य में भी इसी प्रवृत्ति का प्रतिरोध किया, जहाँ रहस्यवाद, व्यक्तिवाद और सौन्दर्यवाद ने सामाजिक उत्तरदायित्व को पीछे छोड़ दिया। शुक्ल जी का महत्व इसी बात में निहित है कि उन्होंने साहित्य को जीवन से जोड़ा, जिसमें केवल भावना नहीं, बल्कि चेतना, कर्म और परिवर्तन की ऊर्जा भी मौजूद है। उनके लिए

आलोचना एक बौद्धिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व का वह माध्यम थी जिससे बीते हुए को वर्तमान के लिए सार्थक बनाया जा सके। आज जब साहित्य-समीक्षा कई बार केवल शैलियों और विमर्शों की शब्द-यात्रा में उलझती जान पड़ती है, शुक्लजी का आलोचना- कार्य हमें स्मरण कराती है कि साहित्य का अंतिम उद्देश्य केवल सौंदर्य का उपभोग नहीं, बल्कि मनुष्य और समाज के बीच सतत संवाद और पुनर्रचना है। वे साहित्य को एक ऐसी सृजनात्मक प्रक्रिया मानते थे, जो जीवन की गति और मानवीय चेतना के साथ कदम मिलाकर चलती है। उनकी दृष्टि न तो अंध परंपरावाद को स्वीकार करती है और न ही वह भावनाओं को विवेक पर हावी होने देती है। उनका सौंदर्यबोध परंपरा से रस लेता है, किंतु उसी परंपरा में वे समकालीन यथार्थ की रोशनी भी भरते हैं- ऐसी रोशनी जो अतीत के अनुभवों को वर्तमान की चुनौती में ढालती है। इसलिए शुक्लजी की आलोचना-पद्धति किसी एक विचारधारा की सीमाओं में बंधी नहीं रहती, बल्कि वह सतत विकासमान लोकचेतना की पक्षधर बन जाती है।इसीलिए शुक्लजी का साहित्यिक दृष्टिकोण आज भी केवल अतीत का दस्तावेज़ नहीं, बल्कि भविष्य के निर्माण का बौद्धिक उपकरण भी बनकर हमारे सामने उपस्थित होता है।

निष्कर्ष –

इक्कीसवीं सदी के वर्तमान बौद्धिक परिदृश्य में, जब परम्परा, जातीयता और पुनरुत्थान के नाम पर इतिहास का यथार्थ अपवंचित किया जा रहा है, आचार्य रामचन्द शुक्लजी की आलोचना-दृष्टि एक समतामूलक, प्रगतिशील और विवेकसम्मत मार्गदर्शन प्रदान करती है। उन्होंने इतिहासबोध को भावुकता में नहीं, सैद्धान्तिक अनुशीलन में बदला; उन्होंने परम्परा को स्थिर प्रतीक नहीं, गतिशील प्रक्रिया मानी; और सबसे महत्वपूर्ण, उन्होंने साहित्य को केवल सौन्दर्य का साधन नहीं, सामाजिक यथार्थ और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रक्रिया के रूप में स्थापित किया। उनकी आलोचना का मूल स्वर केवल साहित्य को पढ़ना नहीं, उसे सामाजिक चेतना का संवाहक बनाना था। इसीलिए, आचार्य शुक्ल का साहित्यिक चिंतन आज भी न केवल प्रासंगिक है, बल्कि हमारी आलोचना परंपरा के लिए एक चुनौतीपूर्ण आदर्श भी है जिसे नए सिरे से पढ़ना, समझना और विकसित करना हमारी समकालीन आलोचनात्मक ज़िम्मेदारी बनती है।

सन्दर्भ सूची –

1. डॉ.शिवकुमार मिश्र, हिंदी आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल(2002), वाणी प्रकाशन, पृ.11
2. वही, पृ. 34
3. नन्द किशोर नवल, हिंदी आलोचना का विकास (1981), राजकमल प्रकाशन, पृ.99
4. आचार्य रामचंद्रशुक्ल, चिंतामणि भाग – 1, पृ. 220 – 21
5. डॉ.शिवकुमार मिश्र, हिंदी आलोचना की परंपरा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल (2002), वाणी प्रकाशन, पृ.39
6. कमलाप्रसाद, आलोचक और आलोचना(2002), आधार प्रकाशन।
7. कृष्णदत्त पालीवाल, हिंदी आलोचना का सैद्धांतिक आधार(2004), वाणी प्रकाशन।

◆ शोधार्थी, हिंदी विभाग,
श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,
कालड़ी, केरल राज्य।
फोन: 8089260731

नवगीत काव्य में सांस्कृतिक चेतना

♦डॉ. सरिता ♦♦ डॉ.राजेश कुमार

सारःआधुनिक हिन्दी साहित्य की नवगीत काव्यधारा अपनी अभिव्यक्ति की दृष्टि से विशिष्ट है, क्योंकि उसमें एक साथ मानव जीवन की जटिलताओं, विरोधाभासों और सांस्कृतिक परिवर्तन के समकालीन स्वर को सशक्त रूप में उभारा है। पारम्परिक गीत विधा से अलगाव करते हुए नवगीत काव्य ने परंपरागत सांस्कृतिक प्रतीकों, मिथकों और जीवन-मूल्यों को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुति दी है। इसके साथ-साथ भौतिकवादी प्रवृतियों का प्रतिकार कर सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा नवगीत की प्रकृति का आधार है।

बीज शब्दःसंस्कृति का स्वरूप, संस्कृति के विविध कारक, नवगीत और संस्कृति, नवगीत की उपादेयता।

प्रस्तावनाः

संस्कृति क्या है? इस संबंध में विद्वानों के मत विविध हैं। इन सभी अवधारणाओं में समाज का व्यावहारिक चित्रण होता है, जो समाज की संस्कृति का परिचायक होता है। सामान्यतः परिभाषा में संस्कृति का निर्माण संस्कारों से होता है, जो समाज के क्रिया-व्यापार में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं। समाज में सस्कारों का विकसित या घनीभूत स्वरूप ही संस्कृति है। हमारे समाज के संस्कार जिस मूर्त रूप में होंगे, हमारी संस्कृति का स्वरूप भी वैसा होगा। विश्व के प्रमुख सांस्कृतिक चिन्तकों ने 'संस्कृति' को व्यापक रूप में परिभाषित किया है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।'[1] मनुष्य के जीवन के चार उद्देश्य प्रमुख होते हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। उसके जीवन का सारा श्रम इन्हीं की प्राप्ति में लगा रहता है, यह श्रम ही उसकी साधना है। मनुष्य की सांस्कृतिक समृद्धता जीवन के श्रेष्ठ व्यापारों के प्रयोजन से है। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर का कथन है कि 'असल में संस्कृति ज़िन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।'[2] जीवन का यह ढंग भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और भाषाई सन्दर्भ में होता है। पश्चिम के दार्शनिक और संस्कृति के अध्येता मैथ्यू आर्नल्ड की मान्यता है कि 'अपने में सम्बद्ध सभी विषयों तथा सृष्टि में कथित और विचारित सर्वोत्तम के ज्ञान द्वारा पूर्ण सिद्धि-सम्पादन एवं इस ज्ञान द्वारा अपनी पूर्व संचित कल्पनाओं और अभ्यासों पर हम विश्वासपूर्वक, किन्तु यन्त्रवत् अनुसरण करते हैं, नूतन और स्वतन्त्र चिन्ताधारा का प्रवाह ही संस्कृति है।'[3]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति मानव का जीवनबोध है जिससे मन और मस्तिष्क का परिष्कार होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव जाति का श्रेय-संपादन करने वाला संस्कार ही संस्कृति है।

साहित्य का आधार ही सांस्कृतिक होता है। इसी में ही समाज, धर्म, राजनीति, भाषा और आर्थिक रूप समाहित होते हैं। हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं, जैसे- कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, व्यंग्य, यात्रावृत्त, संस्मरण, आत्मकथा और रिपोर्ताज आदि में इन सभी की अभिव्यंजना को देखा जा सकता है। नवगीत काव्य भी इसी का निर्वाह करता है। हिन्दी साहित्य में पचास के दशक में यह काव्यधारा अपने नवीन विषय और शिल्प के आधार पर जीवन के उस सांस्कृतिक बोध को चित्रित करती है, जो भारत की जातीय अस्मिता का परिचायक है। भारत का सांस्कृतिक चिंतन आत्मज्ञान पर केन्द्रित है और यही दर्शन नवगीत की संरचना का आधार है। भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है- वसुधैव कुटुम्बकम। नवगीत में इसी संस्कृति का अनुसरण जीवन की सम्पृक्तता के रूप में है। यह भारतीय समाज का मूल आदर्श है जिसे इस गीति काव्यधारा में देखा जा सकता है। नवगीतकार गुलाब सिंह की गीत पंक्तियों में भारतीय जन की इस यादृच्छिकता का दर्शन देखा जा सकता है-

'हरे लहरे खेत से टकराती सोना पतारी
ले रहे बाबा हरि का नाम
खींचती अम्मा पकड़की कर चादर की

उठी दीदी, जगी अंगड़ाइयाँ
खनकता आँगन संवरते बरतनों से
लीपतीं चौका ओसारा भोर सी भौजाइयाँ
दोहनी में धार, तार सितार के बजते
सुबह के संगीत होते काम।'[4]

नवगीत में सांस्कृतिक प्रतिबद्धता के विविध स्तर हैं।इसका कारण यह है कि नवगीतकार को अपने लोक संबंधी ज्ञान पर तो गर्व है ही, इसके साथ-साथ जन चेतना का संस्कार भी उसे और मज़बूती देता है। मार्क्सवादी चिन्तक रैल्फ फॉक्स का कथन है कि लेखक को 'इस योग्य होना चाहिए कि वह अपने, राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत का उपयोग कर सके। .....संस्कृति एक ऐसी चीज़ है जिसे हमें जीवन के अमल को गहरा बनाने के काम में लाना है।'[5]

आध्यात्मिकता, कर्म-प्रधानता, अमरता, चिन्तन की स्वतंत्रता, ग्रहणशीलता, सहिष्णुता और उदारता के अतिरिक्त अनेकता में एकता आदि विशिष्टताओं का पुंज भारतीय दर्शन और संस्कृति की पहचान है। नवगीत काव्य के प्रमुख हस्ताक्षर शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह और वीरेन्द्र मिश्र के नवगीतों में संस्कृति के स्वर हैं। हिन्दी आलोचकों ने कई बार संस्कृति को आयातित विचारधाराओं से प्रभावित होकर परिभाषित किया, यही कारण था कि उनके लिए संस्कृति जीवन का प्रतिगामी मार्ग रही। नवगीत से पूर्व के काव्य में भी सांस्कृतिक चेतना दिखाई देती है। मैथिलीशरण गुप्त ने इसे 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं,'जयशंकर प्रसाद ने इसे 'जगे हम लगे जगाने विश्व', महादेवीवर्मा ने इसे 'चिर सजग आँखे उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना', और निराला ने इसे 'जागो फिर एक बार' के रूप में भारतीय संस्कृति का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि हिन्दी गीत विधा जन अपेक्षाओं के रूप में समाज की अनुभूतियों के प्रति प्रतिबद्ध रही है। ये सभी कवि सांस्कृतिक चेतना को ही साहित्य का मूल आधार मानते हैं। छायावादी गीतकारों और नवगीतकारों की अभिव्यक्ति में जो अन्तर दिखाई देता है, वह संरचना के नवीन प्रयोगों के संदर्भ में है जहाँ पारम्परिक गीत को यथार्थ का पर्याय नहीं माना गया या यह माना गया कि गीत भावुकता को ही व्यक्त कर सकता है, सही नहीं है। परन्तु, सच यह है कि नवगीत में न केवल सामाजिक अनुभूतियों का समष्टिगत रूप है, बल्कि उसमें नये उपमानों का प्रयोग भी देखा जा सकता है। इसका मुख्य कारण नवगीतकार का जन-संस्कृति से जुड़ना है।

'चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।'[6] मानव जीवन तभी खुशहाल हो सकता है जब उसकी संस्कृति जन-अपेक्षाओं के अनुरूप हो। वीरेन्द्र मिश्र की गीत पंक्तियाँ 'दूर होती जा रही है कल्पना, पास आती जा रही है ज़िन्दगी'[7] नवगीत आन्दोलन का आदर्श रही हैं। भारत की जातीय संस्कृति में प्रेम, सद्भाव, जनकल्याण, सत्य, अहिंसा आदि गुण अनायास या सयत्न नहीं हैं, बल्कि हमारे पौराणिक आख्यानों के निरन्तर ज्ञानार्जन के कारण आज भी जीवन की चुनौतियों के सामने हताश नहीं होता है। यही हमारी शक्ति है। शिव बहादुर सिंह भदौरिया की गीत पंक्तियाँ-

'मैं न रूकूँ संग्रह के घर में, धार रहे मेरे तेवर में,
मेरा बदन काट कर नहरें ले जाये पानी ऊसर में,
जहाँ कहीं हो, बंजरपन का मरना मुझमें हो।'[8]

इसी सांस्कृतिक हौसले की द्योतक हैं। मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलासशर्मा ने इस संदर्भ में कहा है कि 'यहाँ राष्ट्रीयता मुख्यतः संस्कृति और इतिहास की देन है। इस संस्कृति के निर्माण में इस देश के कवियों का सर्वोच्च स्थान है। इस देश की संस्कृति से रामायण और महाभारत को अलग कर दें तो भारतीय साहित्य की आन्तरिक एकता टूट जाएगी।'[9] अस्मिता, राष्ट्र, व्यवहार, दृष्टि, वस्तु-विनिमय आदि ये सभी समाज के बुनियादी क्रिया-व्यापार हैं और समाज की पहचान इन्हीं से है। सामाजिक संस्कृति का प्रस्थान भी यही

हैं।

नवगीत में निहित सांस्कृतिक चेतना नई कविता से भिन्न है। जहाँ नई कविता में पौराणिक-सांस्कृतिक रूपों का संदर्भ प्रयोग के तौर पर किया गया है, वहीं नवगीत में मानव मूल्यों के संरक्षण के लिए किया गया है। 'नवगीत में पौराणिक संवेदन, मिथ और प्रतीक को आधुनिक संस्कार देकर समाज और राष्ट्र की जातीय या सामूहिक चेतना को उजागर करने का प्रयास किया गया है।'[10] भारत में 'वसुधैव कुटुम्बकम' का सांसारिक मूल्य हमारी जातीय संस्कृति का प्रतिफलन है और सामूहिक चेतना का आधार भी है। नवगीत की प्रकृति में इन मूल्यों की अभिव्यक्ति सभी गीतकारों में दिखाई देती है। नवगीतकार उस साधक की भाँति है, जिसका व्यक्तित्व केवल ज्ञान से ही निर्मित नहीं हुआ है, अपितु उसके आस-पास की स्थापनाओं से भी सुसंस्कृत हुआ है -

नत नयनों की चितवन, बीथी ज्यों मिथिला की,
अलसाई प्रतिमा-सी यौवन मद शिथिला की,
वरदायिनी मुद्रा-सी कामधेनु कपिला की
चक्र थमे सोम सूर्य स्यन्दन के।[11]

नवगीत में जिस सांस्कृतिक बोध का आग्रह दिखाई देता है, उसमें सभी लोक-संस्कृतियों के फलने-फूलने की आज़ादी है। इसमें किसी वाद या सिद्धान्त का आग्रह नहीं हैं, बल्कि उन लोक संवेदनाओं का यथार्थ सौंदर्य है जिसमें जनजीवन की प्रगतिशीलता दिखाई देती है। भारतीय दार्शनिकों और चिन्तकों ने निरन्तर इसे समृद्ध किया है, यही कारण है कि पूरा साहित्य ही संस्कृति अभिमुख है। इस सन्दर्भ में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'जब हम किसी साहित्य के इतिहास को पढ़ने बैठते हैं तो वस्तुतः उस जाति की सम्पूर्ण चिन्तामणि, अनुभूति-परम्परा और संवेदनशीलता का परिचय पाना चाहते हैं। कालिदास, भवभूति, तुलसीदास और बिहारी जितने भी भिन्न क्यों न हों, वे वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय जाति (राष्ट्र) की भिन्न-भिन्न अवस्था और अनुभूति-परम्परा के परिचायक हैं।'[12] इन सभी कवियों ने मानव धर्म को प्राथमिकता दी है। धर्म अर्थात् कर्त्तव्य भारतीय संस्कृति की पहचान है। मानवता ही सभी कवियों, दार्शनिकों और चिन्तकों का लक्ष्य है। इस साध्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब जन-संस्कृति की चेतना निरन्तर लोक व्यवहार का हिस्सा हो। नवगीत काव्यधारा में पौराणिक संदर्भों का नवीन उपमानों के माध्यम में प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह इस रूप और प्रकार में विशिष्ट है कि इन सब का प्रयोग आधुनिक कथ्य को उजागर करने और नवीन बिम्बों में है। इसी आधार पर यह नई कविता और पारम्परिक गीति काव्य से भिन्न है। कथ्य की अभिव्यक्ति मात्र शब्द से नहीं हो पाती, उसके लिए रूप या बिम्ब की आवश्यकता होती है। यह कवि के लोकबोध और पौराणिक-सामाजिक संस्कृति के ज्ञान पर भी निर्भर करता है। घनस्याम अस्थाना की गीत पंक्तियों में कथ्य की यही प्रस्तुति है -

लक्ष्मण रेखाओं में वैदेही ज्वालाएँ
भोग रहीं निर्मम वनवास
छलिया कंचन मृग-सा मेघ खण्ड आवारा
टेर रहा प्यास, प्यास, प्यास ?[13]

भारत की स्थापत्य कलाओं में भी सांस्कृतिक चेतना के दर्शन होते हैं। भारतीय कला जीवन्तता का प्रतीक है। सांची के स्तूप, अजंता-एलोरा की गुफाएँ,खजुराहो और कोणार्क के मन्दिर आदि के माध्यम से हम अपने स्वर्णिम अतीत की स्मृतियों को आधुनिकता से जोड़ते हैं। ये स्थापनाएँ हमें अनुशासित और संयमित करती हैं। जहाँ भारत के अतिरिक्त अन्य देश इसे आवश्यक मानते हैं, वहीं हम इसे व्यवहार में शामिल करते हैं -

'रेत में सूखी नदी की, अजन्ता बनाता हूँ,
द्वार पर बैठा गुफा के, मैं तथागत गीत गाता हूँ,
बोध के ये क्षण मुझे लगता, कि मैं खुद से बड़ा हूँ।'[14]

भय, संकोच और भावों का अतिरेक मनुष्य के आत्मविश्वास का क्षरण करते हैं। अतः भारत का जन-

समुदाय अपने व्यक्तित्व में उन सभी का त्याग करता है जो सांस्कृतिक विलम्बन के लिए उत्तरदायी कारक होते हैं। प्रख्यात नवगीतकार राजेन्द्र गौतम ने इसी सांस्कृतिक विचलन को रेखांकित किया है-

'बहुत कठिन,
संवाद समय से
शब्द सभी पथराये।'[15]

नवीन बोध नवगीत का ध्येय है और इसकी कर्मस्थली यह रही है कि इसमें पारम्परिक गीत की भाँति भावात्मक संवेगों का ही उद्रेक उपस्थित नहीं रहा। छायावादोत्तर गीतिकाव्य में यह उद्रेक विच्छिन्न हुआ और बच्चन, अंचल और नरेन्द्र शर्मा ने अपने गीतों में लोक भाषा का प्रयोग किया। आगे चलकर प्रमुख नवगीतकारों- माहेश्वर तिवारी, अमरनाथ श्रीवास्तव, राजेन्द्र गौतम, बुद्धिनाथ मिश्र, गुलाब सिंह, अनूप अशेष, ओम प्रभाकर, जहीर कुरैशी और दिनेश सिंह- के नवगीतों की अन्तर्वस्तु ने आम आदमी के जीवन के आधारभूत कारकों को प्रखरता के साथ अभिव्यक्त किया।

निष्कर्ष:

नवगीत अपने कथ्य में भारतीय संस्कृति का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। यह जीवनबोध की नई प्रस्तुतियों का प्रस्तोता है। भारत की आत्मा जिन संवेगों से झंकृत होती है, उसी भाव की अभिव्यक्ति इसमें दिखाई देती है। नवगीत की परिधि व्यापक है, जिसमें भारत की सांस्कृतिक चेतना अपनी परंपराओं और मूल्यों के साथ-साथ आधुनिक चुनौतियों को भी शामिल करती है।

संदर्भ:

1 द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद, अशोक के फूल, पृ. 64, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली 1948

2 दिनकर, रामधारीसिंह, संस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, पृ.653, राजपाल एंड संस, दिल्ली 1956

3 आर्नल्ड, मैथ्यू, कल्चर एण्ड अनार्की, प्रस्तावना, स्मिथएल्डर एंड कंपनी, वाटरलू, लंदन,1889

4 सिंह, गुलाब, धर्मयुग (धर्मवीर भारती), पृ. 33, अगस्त 1984

5 नागर, नरोत्तम (अनुवादक), रैल्फफॉक्स: उपन्यास और लोकजीवन, पृ. 143, पीपुल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1957

6 विद्यालंकार, सत्यकेतु, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ. 19, सरस्वती सदन, मसूरी, 1968

7 मिश्र, वीरेन्द्र गीतम, वक्तव्य, पृ. 9, ज्ञानवीर प्रकाशन, ग्वालियर, 1956

8 सिंह, शम्भुनाथ, नवगीत दशक-1, पृ. 104, परागप्रकाशन, दिल्ली, 1982

9 शर्मा, डॉ. रामविलाश, परम्परा का मूल्यांकन, पृ. 15, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002

10 शर्मा, डॉ. सत्येन्द्र, नवगीत: संवेदना और शिल्प, पृ. 71, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1993

11 मालवीय, उमाकान्त, मेंहदी और महावर, पृ. 19, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद,1963

12 द्विवेदी, डॉमुकुन्द (संपा) आचार्य हज़ारीप्रसाद, द्विवेदी ग्रंथावली-7, पृ. 180, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1881

13 इन्द्र, देवेन्द्र शर्मा, यात्रा में साथ-साथ, पृ. 10, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1984

14 सिंह, शम्भुनाथ, वक्त की मीनार पर, (नवगीत दशक-1) पृ. 9, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1982

15 गौतम, डॉ. राजेन्द्रकुमार, बरगद जलते हैं, पृ. 13, अनुराग प्रकाशन, दिल्ली, 1998

◆प्रोफेसर (हिन्दी)
श्याम लाल कॉलेज(सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय।
◆◆असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी)
रामलाल आनंद महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
मो. 9868648241

निर्मला पुतुल की कविता 'मैं चाहती हूँ': एक आदिवासी विमर्श का प्रतिरोधात्मक स्वर

◆डॉ.राजू सी.पी

प्रस्तावाना

निर्मला पुतुल भारतीय साहित्य में आदिवासी विमर्श की सशक्त आवाज़ हैं। उनका जन्म झारखंड के दुमका जिले के एक छोटे से आदिवासी गाँव, दुधनी कुरुवा में हुआ। आदिवासी समाज की सांस्कृतिक धरोहर, उनके संघर्षों और हाशिए पर खड़े समाज के प्रति गहरी संवेदना आदि उनके साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। पुतुल की कविताएँ सामाजिक अन्याय, विस्थापन, लैंगिक भेदभाव और आदिवासी समुदाय की समस्याओं को केंद्र में रखती हैं। उनकी कविता **'मैं चाहती हूँ'** इन सभी विषयों को गहराई से छूते हुए आदिवासी समाज की पीड़ाओं, आकांक्षाओं और प्रतिरोध की भावनाओं को व्यक्त करती है। निर्मला पुतुलजी ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत मातृभाषा संथाली में की, लेकिन हिंदी साहित्य में उनकी कविताओं ने व्यापक पहचान बनाई। *उनका पहला कविता-संग्रह है 'नगाड़े की तरह बजते शब्द'। इसमें न केवल साहित्यिक मंच पर आदिवासी चेतना को स्थान दिया, बल्कि इसे मुख्यधारा के विमर्श का एक महत्वपूर्ण हिस्सा भी बना दिया। उनकी कविताएँ पितृसत्तात्मकता, शोषण और तथाकथित सभ्य समाज के पाखंड पर तीखा प्रहार करती हैं। इसके साथ ही, ये आदिवासी स्त्री के आत्मसम्मान, संघर्ष और मुक्ति की आकांक्षा को भी सामने लाती हैं*।[1]

कविता **'मैं चाहती हूँ'** एक आदिवासी स्त्री की आवाज़ के रूप में साहित्य के प्रतिरोधात्मक स्वर को सशक्त बनाती है। यह कविता न केवल एक स्त्री की व्यक्तिगत पीड़ा को अभिव्यक्त करती है, बल्कि आदिवासी समाज की सामूहिक चेतना और उनके ऐतिहासिक संघर्षों को भी चित्रित करती है। यह कविता प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से आदिवासी समाज की दुर्दशा और संघर्षशील इतिहास को फिर से जीवंत करती है।कविता में सिदो-कान्हू, तिलका माँझी और बिरसा मुंडा जैसे आदिवासी नायकों का उल्लेख न केवल उनके गौरवशाली इतिहास को सम्मान देने का प्रयास है, बल्कि वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणा का स्रोत भी है। यह कविता समाज में मौजूद अन्याय और असमानता को उजागर करती है और इसे खत्म करने के लिए एक सामूहिक क्रांति का आह्वान करती है।

निर्मला पुतुल की कविताओं में स्त्रीवादी दृष्टिकोण और सामुदायिक चेतना का गहरा समावेश है।इस कविता में उनकी यह चाह कि उनके शब्द 'नगाड़े की तरह बजें' और 'आँख रहते अंधे आदमी की आँखें बनें,' यह दर्शाती है कि वे अपनी कविता को केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रखना चाहतीं। उनकी कविता समाज को जागरूक करने और बदलाव लाने का माध्यम बनती है। निर्मला पुतुल की यह कविता न केवल आदिवासी समाज के लिए, बल्कि हर उस व्यक्ति के लिए प्रेरणा है, जो अन्याय के खिलाफ खड़ा होना चाहता है। यह कविता आदिवासी विमर्श को एक नई परिभाषा देती है और साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का हथियार बनाती है। इस प्रकार, *'मैं चाहती हूँ'* कविता न केवल एक साहित्यिक कृति है, बल्कि यह सामाजिक चेतना, सामूहिक संघर्ष और प्रतिरोध का घोषणापत्र है। यह आदिवासी समाज की आवाज़ को सशक्त रूप से प्रस्तुत करती है और साहित्य को समाज के लिए एक प्रेरक साधन बनाती है।

कथ्य पक्ष का विश्लेषण:

- **साहित्य और सामाजिक न्याय का संवाद:**

साहित्य केवल एक कला रूप या अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है; यह समाज में बदलाव और न्याय

के लिए एक शक्तिशाली उपकरण भी हो सकता है। जब साहित्य सामाजिक मुद्दों और असमानताओं की बात करता है, तो वह केवल स्थिति का वर्णन नहीं करता, बल्कि समाधान और प्रतिरोध का मार्ग भी सुझाता है।कविता, विशेष रूप से, भावनाओं और विचारों को गहराई से व्यक्त करने का साधन है। लेकिन जब कवि इसे केवल अभिव्यक्ति तक सीमित रखने से इनकार करते हैं और इसे बदलाव लाने के हथियार के रूप में देखते हैं, तो यह साहित्य को सामाजिक न्याय की दिशा में एक सक्रिय भूमिका निभाने का अवसर देता है।

- **प्रतिरोध के प्रतीक और आदिवासी नायक:**

साहित्य, विशेष रूप से कविता, इतिहास और सामाजिक चेतना को सजीव करने का एक सशक्त माध्यम है। जब कविता में सिदो-कान्हू और तिलका माँझी जैसे नायकों का उल्लेख होता है, तो यह न केवल आदिवासी समाज के संघर्षपूर्ण इतिहास को पुनर्जीवित करता है, बल्कि उनकी क्रांतिकारी चेतना को भी सशक्त करता है। कविता की ये पंक्तियाँ देखिए-

"देखना चाहती हूँ मौन समाधि लिये बैठे पहाड़ का सीना चीरकर तिलका माँझी को निकलते।"[2]

इन पंक्तियों में तिलका माँझी, जो भारत के पहले आदिवासी स्वतंत्रता सेनानी थे, आदिवासी समाज के साहस और प्रतिरोध का प्रतीक बनकर उभरते हैं। यहाँ 'मौन समाधि लिये बैठे पहाड़' उस इतिहास और संघर्ष का प्रतीक है, जिसे मुख्यधारा में अक्सर अनदेखा किया गया है। कवि उस छिपे हुए संघर्ष को फिर से उभरते देखना चाहते हैं, जहाँ तिलका माँझी पहाड़ की चुप्पी को चीरते हुए क्रांति का स्वर बनकर सामने आते हैं।

सिदो-कान्हू और तिलका माँझी जैसे नायक केवल ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं हैं; वे आदिवासी गर्व, आत्म-सम्मान और स्वतंत्रता की आकांक्षा के भी प्रतीक हैं। इनका उल्लेख कविता में न केवल आदिवासी समाज के संघर्षों को याद करने का माध्यम है, बल्कि यह उन संघर्षों की निरंतरता और उनकी अदम्य उपस्थिति को दर्शाने का प्रयास भी है।

इस प्रकार कविता में इन नायकों का चित्रण आदिवासी समाज के ऐतिहासिक योगदान को सम्मान देने और उनके संघर्षों की गूँज को वर्तमान में भी जीवित रखने का कार्य करता है। यह पाठकों को यह संदेश देता है कि इन संघर्षों की कहानियाँ भले ही पहाड़ों की चुप्पी में दबी हों, लेकिन उन्हें बार-बार जीवंत करना हमारा कर्तव्य है।

- **स्त्री स्वर और सामुदायिक चेतना:**

कविता में स्त्री स्वर केवल व्यक्तिगत अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह सामुदायिक चेतना और सामाजिक क्रांति के आह्वान का माध्यम भी बन जाता है। कवयित्री अपने शब्दों को उस ऊर्जा और ताकत से भरना चाहती हैं, जो एक पूरे समुदाय को जागरूक कर सकें और उन्हें अन्याय के खिलाफ खड़े होने के लिए प्रेरित कर सकें। कविता की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-*"चाहती हूँ मैं नगाड़े की तरह बजें मेरे शब्द और निकल पड़ें लोग अपने-अपने घरों से सड़कों पर।"*[3]

ये पंक्तियाँ एक स्त्री की आकांक्षा को प्रकट करती हैं, जो अपनी आवाज़ को केवल निजी दुःख-सुख तक सीमित नहीं रखती, बल्कि इसे सामूहिक चेतना जगाने और सामाजिक बदलाव लाने का माध्यम बनाती है। 'नगाड़े की तरह बजें मेरे शब्द' का अर्थ है कि कवि के शब्द इतने शक्तिशाली और गूँजदार हों कि वे लोगों के दिलों को झकझोर दें।यह स्त्रीवादी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह दिखाता है कि एक स्त्री की आवाज़ न केवल व्यक्तिगत, बल्कि सामुदायिक और सार्वजनिक दायरे में भी प्रभावशाली हो सकती है। कवि का यह दृष्टिकोण परंपरागत सीमाओं को तोड़ता है और स्त्री को एक सशक्त परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में स्थापित करता है।साथ ही, यह कविता सामाजिक क्रांति का आह्वान भी करती है। यह लोगों को अपने घरों से बाहर निकलने, अन्याय का सामना करने और सामूहिक रूप से

बदलाव लाने के लिए प्रेरित करती है।

यह कविता स्त्री स्वर की शक्ति और सामूहिक चेतना की संभावनाओं को दर्शाती है। यह बताती है कि जब शब्द सामुदायिक चेतना से जुड़े होते हैं, तो वे केवल कागज़ पर नहीं रहते, बल्कि समाज में परिवर्तन का आधार बन जाते हैं।

- **प्रतीक और भावनात्मक अर्थ द्वारा चेतना:**

'मैं चाहती हूँ' कविता में कवयित्री लिखती हैं: *"कुल्हाड़ी की भोथरी धार को पिजाते देखना चाहती हूँ मैं"*[4] जो गहरे प्रतीकात्मक अर्थ से भरी हुई है।" यहाँ 'कुल्हाड़ी' प्रतीक है उस संघर्ष, प्रतिरोध और साधन का, जिसका उपयोग ऐतिहासिक रूप से आदिवासी समुदायों ने अपने हक और अस्तित्व की रक्षा के लिए किया। 'भोथरी धार' उन साधनों, प्रयासों या प्रतिरोध की शक्तियों को दर्शाती है, जो अब कमज़ोर हो चुकी हैं या जिनकी धार कुंद हो गई है। कवयित्री यह कहना चाहती हैं कि वे चाहती हैं कि यह कमज़ोर, भोथरी धार वाली कुल्हाड़ी (यानी कमजोर और निष्क्रिय हो चुके साधन) फिर से तेज़ और प्रभावी हो जाए। 'पिजाना' शब्द यह इंगित करता है कि वह इसे नई ताकत और धार देने की आकांक्षा रखती हैं, ताकि यह पुनः संघर्ष और बदलाव का प्रतीक बन सके। यह पंक्ति आदिवासी समुदाय की खोई हुई शक्ति, साहस और प्रतिरोध की धार को पुनर्जीवित करने की इच्छा को व्यक्त करती है। *"मैं चाहती हूँ मेरे शब्दों की ज़मीन से उगें कई-कई बिरसा मुण्डा।"*[5]यहाँ कवयित्री की आकांक्षा स्पष्ट है। उनके शब्द केवल विचार नहीं, बल्कि क्रांति और प्रतिरोध की चिंगारी बनें। बिरसा मुंडा का संदर्भ आदिवासी समुदाय के गर्व और स्वतंत्रता-संग्राम के प्रतीक के रूप में दिया गया है। बिरसा मुंडा एक ऐसे नायक थे, जिन्होंने औपनिवेशिक शासन और सामाजिक अन्याय के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाई। इस संदर्भ में, कवयित्री समाज के उन शोषित वर्गों के उत्थान और न्याय के लिए संघर्ष को अपनी कविता के माध्यम से प्रेरित करना चाहती हैं।इस प्रकार, साहित्य और सामाजिक न्याय का संवाद न केवल पाठकों को प्रभावित करता है, बल्कि उन्हें समाज में सकारात्मक बदलाव के लिए प्रेरित भी करता है। यहाँ बिरसा मुंडा एक आदिवासी नेता और स्वतंत्रता सेनानी के रूप में आदिवासी गर्व और प्रतिरोध के प्रतीक हैं।

ये पंक्तियाँ *"मैं चाहती हूँ आँख रहते अन्धे आदमी की आँखें बनें मेरे शब्द"*[6] गहरे प्रतीक और भावनात्मक अर्थ को प्रकट करती हैं। यहाँ 'आँख रहते अन्धा आदमी' उन लोगों का प्रतीक है, जो सब कुछ देखते हुए भी अन्याय, शोषण, और समस्याओं के प्रति उदासीन बने रहते हैं। वे समाज की सच्चाइयों और पीड़ाओं को नज़रअंदाज़ कर देते हैं, मानो उनके पास दृष्टि होते हुए भी वे अंधे हों।कवयित्री यह चाहती हैं कि उनके शब्द लोगों के लिए जागृति का माध्यम बनें। उनके शब्द 'आँखें बनें,' जो समाज की सच्चाई को स्पष्ट रूप से दिखा सकें और उन्हें वास्तविकता का सामना करने के लिए प्रेरित करें।यह पंक्ति उन निष्क्रिय और उदासीन लोगों को जागरूक करने की कवयित्री की इच्छा को व्यक्त करती है, ताकि वे अन्याय और असमानता के खिलाफ खड़े हो सकें और अपने दायित्व को समझें।

निष्कर्ष

निर्मला पुतुल की कविता ***'मैं चाहती हूँ'*** आदिवासी समाज के संघर्ष, उनके आत्मसम्मान और सामूहिक चेतना की अमिट उपस्थिति को दर्शाती है। यह कविता न केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति है, बल्कि एक प्रतिरोधात्मक स्वर है, जो आदिवासी समुदाय के अस्तित्व, अधिकार और न्याय की माँग को सशक्त रूप से प्रस्तुत करती है। यह आदिवासी विमर्श को एक नया आयाम देती है, जिसमें उनके ऐतिहासिक संघर्ष, सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक अन्याय के खिलाफ खड़े होने की ताकत झलकती है। इस कविता का हर शब्द आदिवासी समाज की पीड़ाओं और आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करता है। कवयित्री की यह चाह कि उनके शब्द 'नगाड़े की तरह बजें' और 'कई-कई बिरसा मुंडा उगें,' इस बात का प्रमाण है कि यह

कविता केवल भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि एक क्रांतिकारी घोषणापत्र है। बिरसा मुंडा, सिदो-कान्हू, और तिलका माँझी जैसे नायकों का उल्लेख आदिवासी गर्व और प्रतिरोध की भावना को उजागर करता है। इन प्रतीकों के माध्यम से कवयित्री आदिवासी समाज की ऐतिहासिक ताकत को पुनर्जीवित करती हैं।कविता का स्त्रीवादी दृष्टिकोण इसे और अधिक सशक्त बनाता है। यहाँ एक स्त्री न केवल अपने व्यक्तिगत अनुभवों को साझा करती है, बल्कि अपने शब्दों को सामूहिक चेतना का साधन बनाती है। यह स्त्री-आवाज़ परंपरागत सीमाओं को तोड़ती है और सामूहिकता, न्याय और समानता के लिए एक व्यापक आह्वान करती है। कविता में 'नगाड़े की तरह बजने' और 'सड़कों पर लोगों के निकलने' की कल्पना एक ऐसी सामूहिक क्रांति की ओर इशारा करती है, जो समाज के हर तबके को जागरूक करने का प्रयास है।

कवयित्री की भाषा में गहन प्रतीकात्मकता और गूढ़ता है। 'कुल्हाड़ी की भोथरी धार को पिजाना' और 'मौन समाधि लिए बैठे पहाड़' जैसे प्रतीक आदिवासी समाज की खोई हुई चेतना और संघर्ष की धार को पुनर्जीवित करने की आकांक्षा को प्रकट करते हैं। यह कविता आदिवासी समाज की सामूहिक चेतना को न केवल जगाने की, बल्कि इसे तेज़ और प्रभावी बनाने की प्रक्रिया का हिस्सा है।निर्मला पुतुल का साहित्यिक योगदान इस बात का प्रमाण है कि कविता केवल कल्पना या कला का माध्यम नहीं है; यह समाज के हाशिए पर खड़े समुदायों की आवाज़ है। उनकी कविताएँ आदिवासी समाज के संघर्ष, विस्थापन और पहचान के मुद्दों को गहराई से उजागर करती हैं। ***मैं चाहती हूँ*** एक ऐसी कविता है, जो साहित्य के स्थापित ढाँचों को चुनौती देती है और आदिवासी समाज को एक नया दृष्टिकोण और सशक्त मंच प्रदान करती है।

संदर्भ ग्रंथ:

1. 'मैं चाहती हूँ' कविता, संचार कौशल विकास भाग दो, कालिकट विश्वविद्यालय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2024.
2. आदिवासी प्रतिरोध, केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स, नई दिलली, 2016.
3. आदिवासी विश्व-चेतना, महादेव टोप्पो, अनुज्ञा बुक्स, नई दिलली, 2022.

संदर्भ सूची:

1. 'मैं चाहती हूँ' कविता, संचार कौशल विकास-भाग दो, कालिकट विश्वविद्यालय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2024. पृष्ठ सं 16.
2. वही पृष्ठ सं 19.
3. वही पृष्ठ सं 19.
4. वही पृष्ठ सं 19.
5. वही पृष्ठ सं 18.
6. वही पृष्ठ सं 19.

◆असोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
सेंट आलोष्यस कॉलेज, तृश्शूर जिला, केरल।
फोन: 8330080066

दलित कहानियों में अभिव्यक्त आक्रोश एवं विद्रोह

◆बिंदु आर

शोध सार: दलित कहानी अस्मितावादी लेखन का परिणाम है, जिसपर अंबेडकरवादी विचारधारा प्रभावपूर्ण रूप से परिलक्षित होती है। दलित कहानीकार भोगे हुए सच को अपनी ही शैली में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है। विषय-वस्तु, भाषा, पात्र आदि सब इसके अपने ही समाज से आते हैं।

प्रेमचंद ने ही पहली बार भारतीय समाज में नारकीय जीवन भोगनेवाले दलितों को अपने साहित्य का विषय बनाया। उनकी संपूर्ण यातनाओं के साथ उनकी कहानियों में शूद्रों और सवर्णों के बीच अंतः संबंधों का बहुत ही अच्छा चित्रण मिलता है। आठवाँ दशक दलित कहानी की दृष्टि से काफी समृद्ध है। हिंदी दलित कहानी की पृष्ठभूमि बनाने में राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित पत्रिका **'हंस'** और कमलेश्वर द्वारा संपादित पत्रिका

'सारिका' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। **'सारिका'** पत्रिका ने दलित साहित्य पर दो विशेषांक अप्रैल-मई, 1975 ई में प्रकाशित किये। रमणिका गुप्ता ने **'दूसरी दुनिया का यथार्थ'** कथा-संकलन का संपादन किया, जिसमें पहली बार हिंदी साहित्य में 18 दलित कहानीकारों की कहानियों को संकलित किया गया। राजेंद्र यादव के संपादकत्व में सन् 1992 ई. में **'हंस'** ने दलित विशेषांक प्रकाशित किया, जिसमें ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, कंवल भारती, सूरजपाल चौहान आदि हिंदी के दलित कहानीकारों की कहानियों में दलित प्रतिरोध को जगह दी गई।

बीज शब्द: दलित कहानी, दलित कहानी की पृष्ठभूमि, प्रमुख दलित कहानीकार, दलितों का शोषित जीवन, जाति के नाम दलितों पर उपहास, ऊँच-नीच भेदभाव, दलितों का आक्रोश और प्रतिरोध।

मूल आलेख

"आत्मकथा, कविता, कहानी, आलोचना, उपन्यास और नाटक सहित साहित्य की लगभग सभी विधाओं के माध्यम से दलित लेखकों ने साहित्य की दुनिया का विस्तार किया है। इनमें आत्मकथा, कहानी और कविता दलित साहित्य की प्राथमिक विधाएँ हैं। दलित कहानियों में दलित जीवन की इतनी तस्वीरें दिखलाई देती हैं कि उन्हें पढ़कर भारतीय सामाजिक संरचना में एक दलित के जीवन की कठिनाई समझ में आती है। दलित कहानियों में कहानीकारों ने भाषा एवं शैली की कलात्मक अभिव्यक्ति की जगह, दलित जीवन जैसा है, वैसा ही दिखलाने का प्रयास किया है।ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, सुशीला टाकभौरे, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह 'बेचैन', सूरजपाल चौहान, रत्न कुमार साँभरिया, दयानन्द बटोही, सी.बी. भारती, एस आर हरनोट, बिपिन बिहारी, शत्रुघ्न कुमार, कुसुम बियोगी, अजय नावरिया, बुद्धशरण हंस, मुसाफिर बैठा,सउसीला टाकभौरे, रजनी तिलक, कर्मशील भारती, रजत रानी मीनू, सत्य प्रकाश, उमेश कुमार सिंह,प्रहलाद चंद्र दास आदि कहानीकारों ने बुद्ध-फुले-अम्बेडकर के प्रभाव में प्रभावशाली दलित कहानियाँ लिखीं। इन कहानियों में भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में हाशिए की ज़िन्दगी व्यतीत कर रहे दलित समाज से जुड़े सवालों को लेखकों ने सामाजिक यथार्थ का हिस्सा बनाकर, उसे गैर बराबरी से जुड़े सवालों से जोड़ा।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भारतीय समाज में दलितों के उत्पीड़न को अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज के सामने प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से दलित जीवन की नरकीय अवस्था का भी चित्रण किया है। भारत के प्रसिद्ध दलित साहित्यकारों में एक है ओमप्रकाश वाल्मीकि। उनके तीन कहानी संग्रह हैं-'सलाम' 'घुसपैठिए' और 'छतरी'। ओमप्रकाश वाल्मीकि ऐसे लेखक हैं जिन्होंने आधुनिक दलित साहित्य को एक नई दिशा, दशा और ऊर्जा प्रदान की। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भारतीय समाज में दलितों के उत्पीड़न को अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज के सामने प्रस्तुत किया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी **'चिड़ीमार'** की सुनीति के पिता ने नगरपालिका की नौकरी से रिटायर होते ही बिस्तर पकड़ लिया। सुनीति अपनी माँ से आत्मविश्वास के साथ बताती है-"माँ तुम सिर्फ पापा की चिंता करो, मेरी फिकर करना छोड़ दो। मैं नौकरी करूँगी।"[2]

दलित है तो हर कहीं उसे उपेक्षा और तिरस्कार ही मिलेंगे। उसमें भी स्त्री हो तो उसका शोषण और तिरस्कार दुगुना होगा। सुनीति को उतनी आसानी से नौकरी नहीं मिलती। "सुनीति जहाँ भी जाती निराशा ही हाथ लगती। कहीं 'शिक्षा अधूरी है' कहकर टाल दिया जाता, तो कहीं भाषा बाधक बन जाती। कहीं 'क्षेत्रीयता' तो कहीं 'जाति' के कारण निराश होना पड़ता। कहीं लड़की होना अभिशाप बनता, तो कहीं एस.सी होने के दंश अपराध बोध से भर देते थे।"[3]

काफी संघर्ष के बाद सुनीति को एक सरकारी दफ्तर में नौकरी मिलती है। लेकिन दफ्तर के बाहर और भीतर की दुनिया के बदरंग अनुभव उसके सामने खड़े हो जाते थे। तीन लोग रोज़ सुनीति का रास्ता रोककर

खड़े हो जाते थे। सुनीति हिम्मत नहीं छोड़ती। वह रास्ता बदलकर जाने लगती। लेकिन वे तीन बदमाश सुनीति को छोड़ते नहीं थे। एक दिन उन तीनों के नेता गुल्लूदाई ने सुनीति के स्कूटी का हैंडिल पकड़ लिया। सुनीति एक झन्नाटेदार थप्पड़ गुल्लू के गाल पर डाला।

सुनीति उसे छेड़नेवाले लड़कों को हिम्मत के साथ सामना करती है। लेकिन वह चाहती है कि उसके माँ-बाप को अपनी परेशानी का पता न चले, क्योंकि वे उन्हें जल्दी ही शादी करके भेज देंगे और सुनीति को नौकरी छोड़नी पड़ेगी। सुनीति के भीतर एक टीस उठी-"एक लड़की होना वह भी एक दलित परिवार में... उसे लगा जैसे वह धधकते अंगारों पर बैठी है।"[4]

दलित पढ़े-लिखे हो या नौकरीपेशा, फिर भी उसे जाति के नाम उपहास झेलना पड़ता है। सुनीति का दोस्त है सुतेज। जब सुनीति सुतेज के साथ स्कूटी में जाती है तो तीनों चिड़ीमार चिल्लाते हैं-"देखबे! आज भंगिन किसी भंगी को साथ लाई है, बॉडीगार्ड बनाके।"[5]

सुतेज उन चिड़ीमारों को मारने के लिए तैयार हो जाता है। लेकिन सुनीति सुतेज को रोकता है कि उसका उन बदमाशों से झगड़ा न हो जाय। सुनीति सुतेज से कहती है-"मैं उनसे नहीं डरती... एक बार उस मोटू को थप्पड़ जड़ चुकी हूँ। तब से हर रोज़ वह मुझे भंगिन कहकर चिढ़ाता है। कभी जमादारनी,तो कभी मेहतरानी, कभी चूहडी...मैं अनसुना करके निकल आती हूँ।"[6]

दलित स्त्री को जाति के नाम पर और स्त्री होने के कारण भी समाज में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने सुनीति के द्वारा दलित स्त्री को अपनी समस्या के खिलाफ़ लड़ने की हिम्मत दी है। सुनीति उसे छेडनेवालों से नहीं डरती। वह अकेले उन्हें सामना करती है। लेकिन स्त्री होने के कारण वे सुनीति को तंग करते रहते हैं। सुतेज सुनीति से बताता है कि- "तो क्या चुप बैठे रहें...या समय के बदलने का इंतज़ार करते रहें... समय अपने आप तो घड़ी में भी नहीं बदलता। बदलने के लिए कुछ करना होता है।...नहीं सुनीति, तुम अकेली कब तक लड़ोगी? क्या यह लड़ाई अकेले-अकेले लड़ी जा सकती है? वे तो मिलकर सामने खड़े हैं,'कौरवों की अनगिनत सेना की तरह, जहाँ कर्ण भी उनके ही साथ है?... फिर हम अकेले-अकेले क्यों लड़ें... इस यातना का अंत होना ही चाहिए।"[7]

सुतेज के इन वाक्यों द्वारा कहानीकार यही बताना चाहता है कि दलितों को संगठित होकर लड़ना चाहिए। क्योंकि दलितों को तंग करनेवाले भी अकेले नहीं, ग्रूप में होते हैं। दलितों को उसके प्रति होने वाले अत्याचारों से लड़ना चाहिए। क्योंकि बदलाव अपने आप नहीं आएगा।

सुतेज गुल्लू पर वार करता है। सुतेज को पकड़ने के लिए गुल्लू पुलिस को साथ लेकर आता है और सुनीति को रास्ते पर रोकता है।पुलिस सुतेज के बारे में पूछती है। सुनीति हिम्मत हारती नहीं। वह पुलिस से बताती है- "हाँ, इससे यह ज़रूर पूछिए कि हर रोज़ शाम को यहाँ खड़े होकर आने-जाने वाली लड़कियों से कैसा सुलूक करते हैं... उनकी जाति याद दिलाते हैं... और इसके दो और चमचे थे, वे कहाँ हैं... पहले उन्हें ढूँढिए।"[8]

पुलिसवाला गुल्लू को पुलिस थाना ले जाता है। एस.पी ने गुल्लू को कसकर एक थप्पड़ लगाया। यहाँ सुनीति हिम्मत से अपनी परिस्थितियों का सामना करतीहै। प्रस्तुत कहानी में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने दलितों पर होनेवाले जातिभेद और अत्याचार के खिलाफ़ हिम्मत से संगठित होकर सामना करने का आह्वान दिया है।

प्रहलाद चंद्र दास की कहानी **'अब का समय'** में इसकी ओर सूचित किया गया है कि हमारे समाज में आये परिवर्तन और समाज में प्रगतिशील बतानेवाले सवर्णों के बारे में खूब लिखते हैं, जो अपने ही घर में दलितों के साथ खाना-पीना पसंद नहीं करते हैं।

विजय बाबू और अंजू के एक बेटा सतीश है और एक बेटी है रश्मि। सतीश इंजीनियरिंग की पढ़ाई के बाद एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में कार्यरत है। उसके साथ काम

करने वाली एक लड़की से वह शादी करना चाहता है। लड़की की जाति के बारे में सतीश को कुछ नहीं पता है। बेटी रश्मि एम.बी.बी.एस करने के बाद पी.जी कर रही है। वह भी साथ पढ़ाई कर रहे एक लड़के से शादी करना चाहती है। उसे भी लड़के की जाति का पता नहीं। लेकिन बेटा-बेटी के निर्णय से अंजू सहमत नहीं होती है। अंजू से उसका पति सतीश कहता है - "जाति-बिरादरी में शादी हो जाए, यह बात तो ठीक है, लेकिन इसके लिए हठ करना ठीक नहीं है। खासकर हमें। जात -पाँत के मारे हम लोगों के लिए, जात पकड़कर रखे रहने की चीज़ नहीं है। इसका तो जिस तरीके से जल्दी विनाश हो, हमें वही करना चाहिए। और इस तरह की शादी उस दिशा में एक सही कदम है।"[9]

बेटा-बेटी अपनी शादी का निर्णय खुद निश्चित करने से अंजू रूठ गयी। एक दिन विजय बाबू दोपहर को खाने के लिए घर आया तो उसने दो अपरिचित व्यक्तियों को देखा। अंजू ने उसे परिचित कराया कि उसमें एक विवेक चौबे उसकी सहपाठी रहा था। दूसरा उसका भैया दीपक चौबे। विवेक चौबे एक बड़ा पत्रकार है। दीपक चौबे कॉन्ट्रेक्टर है। उसके तीन लाख रुपए के ठेके की एक फाइल कॉन्ट्रेक्ट- सेल में पड़ी हुई है। पिछले चीफ ने कुछ अनियमितताओं के आरोप पर फाइल रोक दी थी। विजय बाबू को अभी-अभी पदोन्नति हुई कि वह कॉन्ट्रैक्ट सेल में चीफ बन गया। दीपक चौबे के कॉन्ट्रैक्ट के फाइल को स्वीकृति मिलने के लिए ही ये दोनों अंजू से मिलने के लिए आये थे। विजय बाबू ने फाइल पर सुधारकर लेने का सुझाव दिया। उन दोनों के जाने के बाद विजय बाबू अंजू से पूछता है-"ये क्या गाँव में भी तुम्हारे इतने आत्मीय रहे थे?"[10]

अंजू ने जवाब दिया कि "क्या पूछते हो? इनसे छू जाने भर,से तो हमारी पिटाई हो जाती थी। यह जो 'तुम-ताम' करके बात कर रही थी मैं, वहाँ तो, ये उम्र में बड़े हों या छोटे, सबों को 'आप' से ही संबोधित करना पड़ता था। स्कूल में इनके लिए पीने के पानी का अलग इंतज़ाम होता था और हमारे लिए अलग। इसलिए शुरू में तो मैं डर रही थी कि शायद ये हमारे यहाँ चाय भी न पिएँ।"[11]

अंजू के इन शब्दों से यही जान सकते हैं कि स्कूल में दलितों और सवर्णों को पीने के पानी का अलग इंतज़ाम है। अंजू के बचपन के समय दलितों पर सख्त भेदभाव, अछूत कायम था। दलितों को सवर्णों के घर के सामने की सड़क से जाना मना है। दलितों पर लगाई गई पाबंदी को विजय बाबू के इन शब्दों द्वारा कहानीकार ने प्रकट किया है कि-"लेकिन यह तो बताइए कि आप लोग अभी इनकी मोटर- गाड़ियों को अपने दरवाज़ें से होकर पार होने देते हैं कि नहीं?... मेरा मतलब यह जानने का था कि चौबेडीह की वह पाबंदी अभी कायम है कि नहीं, जिसके कारण मुझे शादी के लिए बैलगाड़ी में चढ़कर जाना पड़ा था, या कि जमाने के साथ उसमें भी कुछ परिवर्तन हुआ है?"[12]

पुराने ज़माने में सवर्णों के घर के सामने के रास्ते से दलितों का जाना मना था। दलितों के छुए पानी, खाना सवर्ण खाते-पीते नहीं थे। दलितों को सवर्णों के घर बिठाकर खाना नहीं खिलाया जाता था और सवर्ण दलितों के घर जाकर खाना-पीना भी नहीं करते थे। आज सवर्ण लोगों के घर के सामने की सड़क से दलित भी जा सकते हैं। सवर्ण लोग भी आज दलितों के पक्ष में बहुत कुछ लिख रहे हैं। प्रस्तुत कहानी में भी इन सभी विषयों पर कहानीकार हमारा ध्यान खींचते हैं। विवेक चौबे पत्रकार है। वह दलितों की समस्याओं पर और दलितों के पक्ष में बहुत कुछ लिखता है। विवेक चौबे अपने भाई दीपक चौबे की नौकरी से संबंधित कार्य के लिए ही अंजू से मिलने उसके घर आता है और खाना भी खाता है। तब उन्हें ऐसा मालूम नहीं हुआ है कि अंजू दलित जाति की है।

एक दिन अंजू विजय बाबू के साथ कार में माइके जा रही थी। तब रास्ते में विवेक चौबे से मुलाकात हो गयी। तब वहाँ स्थानीय पत्रकारों का एक दल पिकनिक के लिए आ गया था। विजय बाबू एक कहानीकार भी है। तब विवेक चौबे पत्रकारों से विजय

बाबू का परिचय करवाने और उसका एक इंटरव्यू लेने के लिए उन्हें आमंत्रित करता है। विजय बाबू को पत्रकारों के बीच छोड़कर विवेक चौबे अंजू को अपने छोटे भाई पंकज को परिचित कराता है। पहले उससे परिचय पाकर पंकज खुश हो जाता है। लेकिन जब उसे ज्ञात होता है कि वह अपने दलित जाति के साथी शरत की दीदी है तो वह उदास हो गया। विवेक पंकज से अंजू को चाय लाने के लिए कहती है। बहुत देर बाद भी पंकज चाय नहीं लाया। उसके बारे में पंकज कहता है - "क्योंकि, कप-प्लेट क्रॉकरी के हैं और हमारे घर के हैं, मैं इनमें इन्हें चाय नहीं दे सकता।"[13]

अंजू यह सब सुनती है और इसके लिए विवेक को सही जवाब देकर विजय बाबू के साथ वहाँ से चली जाती है। तभी अंजू को लगता है कि सतीश और रश्मि के अंतर-जातीय विवाह का निर्णय बिल्कुल ठीक है।

दलितों का दुख दलित ही जानता है। दलितों के पक्ष में साहित्य या पत्र में लिखने से समाज का परिवर्तन नहीं कर सकता। सच्चा सामाजिक बदलाव तभी संभव होगा जब जाति के नाम पर दलितों के प्रति दिखानेवाले सवर्णों के दुर्व्यवहार और कुत्सित मनोभाव समाप्त होंगे।

विजय बाबू इंजिनीयर हैं और एक ईमानदार व्यक्ति भी। प्रतिभा-संपन्न और कार्यकुशल होने के बावजूद भी विजय बाबू को जाति के कारण जगह-जगह पर नीचा दिखाया गया। इसलिए ही वह अपने बेटा-बेटी के अंतर्जातीय विवाह से सहमत है क्योंकि जाति का यह लेबल मिटाने के लिए यही एक समाधान है। विजय बाबू के इस मत से कहानीकार यही बताना चाहते हैं कि दलित समस्या का समाधान उन्हीं के 'दलित' जाति के लेबल को हटाने से ही हो सकता है।

अंत में प्रहलाद चन्द्र दास जी प्रस्तुत कहानी द्वारा जो बताना चाहता है वह विजय बाबू के इन शब्दों में है कि- "अंजू, अब तो तुम समझ गई होगी कि यह जात-पांत कितनी गन्दी चीज़ है। दरअसल जिसने इसके दंश को झेला है,इसके दर्द को भी वही समझ सकता है। इसे हम 'बड़े' होकर और विवेक'उदार' होकर भी खत्म नहीं कर सकता है। उधर पंकज जैसे दंभी और मूर्ख है, जो इसकी जकड़न को थोड़ी भी ढील नहीं देना चाहते।"[14]

जयप्रकाश कर्दम हिंदी दलित साहित्य की प्रथम पीढ़ी के सशक्त साहित्यकार हैं।वे दलित वर्ग से जुड़े होने के कारण उनका साहित्य अनुभूति का साहित्य न बनकर स्वानुभूति का साहित्य है। उनका साहित्य दलित जीवन की संवेदनशीलता और अनुभवों का यथार्थ है। इनके साहित्य में दलित जीवन की विडंबना, दुख, पीड़ा, कसक तथा छटपटाहट हैं। वे अपने साहित्य के माध्यम से समाज में नवनिर्माण करना चाहते हैं।

जयप्रकाश कर्दम दलितों में जाग्रत आत्मसम्मान एवं स्वाभिमान की भावना को अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं। उसकी **'लाठी'** कहानी बदनी जाट के जुल्म के खिलाफ़ फग्गन और उसके परिवार के आक्रोश एवं विद्रोह की भावना को दर्शाती है।

हरसांव अहीरों का गांव था और सदरपुर जाटों का। समाज का ध्रुवीकरण जाति के आधार पर था। मढैया के लोगों के खेत हरसांव, सदरपुर, रईसपुर, काजीपुरा और मिसलगढ़ी के खेतों से मिले हुए थे। खेतों की सिंचाई का एकमात्र साधन अपरगंगनगर से निकला बंबा था। हरिसिंह का खेत पुलिया के निकट मढैया के बदनी जाट के खेतों से लगा हुआ था। उस खेत में पानी का उसका वार सप्ताह में एक बार दिन में और एक बार रात में पड़ता था। दिसंबर का महीना था रात के ग्यारह बजे से हरिसिंह का बार था। लेकिन ग्यारह बजने के बाद भी और हरिसिंह के अनुरोध करने से भी बदनी ने हरिसिंह को पानी नहीं दिया गया। बदनी ने कहा कि-

"अरै तेरे खेत में पानी लगना ज्यादा जरूरी है या मेरे खेत में,ऐं।"[15]

बदनी ने रौबदार स्वर में ही ऐसा कहा। उसके इन वाक्यों में स्पष्ट है कि तुम दलित हो। तुम भूख से मरो, वह तेरी नियति है। लेकिन सवर्ण जाति के होने के कारण मेरी फसल अच्छी हो जाए। मुझे सभी सुख-सुविधाओं का हक है।

हरिसिंह के वाक्यों में समभावना का एहसास है "चौधरी पानी की ज़रूरत तै सभी खेतोंकू है।"[16] ऐसा कहकर हरिसिंह बंध के लिए मिट्टी की छाप रखकर

खड़ा होने के पहले ही हरिसिंह की कमर पर बदनी ने लाठी से मार दिया। हरिसिंह ने बदनी को वार करना चाहा। लेकिन बदनी की एक और मार से वह ज़मीन पर गिर गया।

हरिसिंह घर लौटकर लेट जाता है। लेकिन कमर के दर्द के कारण उसे नींद नहीं आ रही थी। उसकी कराह सुनकर उसकी पत्नी अतरो आयी और बात जानने पर उसकी कमर सहलाना शुरू हुआ और बदनी को ढेर सारी गालियाँ देकर कोसने लगी।

अतरो की चीख और गाली सुनकर हरिसिंह के भाई सम्मन, उसका छोटा भाई फग्गन और उसकी पत्नी भगवानदेई की भी नींद टूट जाती है। हरिसिंह पर हुए अन्याय सुनकर फग्गन को बहुत गुस्सा आता है और वह उसी वक्त बदनी से बदला लेना चाहता है।

फग्गन को सम्मन किसी भी तरह आश्वस्त करना चाहता है। लेकिन फग्गन का गुस्सा कम नहीं होता है। सम्मन फग्गन से बताता है कि "भइया, उनका वहाँ, गाँव का गाँव है, एक पुकार पै सौ लाठी निकल आवेंगी। पार पा लेंगे हम उनसै? म्हारे ही खोपड़े फूट जावेंगे।"[17] जवाब के रूप में फग्गन बताता है "उनका गांव है तै म्हारा गांव न है। वहाँ सौलाठीहैं तो म्हारे यहाँ पांच सौ लाठी हैं।"[18] इसके बदले सम्मन बताता है कि "हां, पांच सौ लाठी हैं, पर कभी पांच सौ लाठी निकली हैं किसी बाहरवाले के खिलाफ़। आपस में एक-दूसरे का सिर फोड़ने के नियां ही हैं ये लाठी। बाहर के सामने चार लाठी ना मिलेंगी उठती हुई।"[19]

सम्मन के इन वाक्यों से कहानीकार यही बताना चाहता है कि दलित जातियों के बीच भी भेदभाव है। वे आपस में एक दूसरे को ऊँच-नीच मानकर लड़ते हैं। दलित जाति में आनेवाली सभी जातियों को एकजुड़ होना चाहिए और एक साथ स्वर्ण लोगों द्वारा उन पर किए जाने वाले अन्याय के खिलाफ लड़ना चाहिए। लेकिन दलित जाति के लोग अलग-अलग होकर लड़ने के कारण उनपर होने वाले अन्याय भी पूरी तरह खत्म नहीं होता है।

प्रस्तुत कहानी द्वारा जयप्रकाश कर्दम जी ने सवर्णों द्वारा दलितों पर होने वाले अन्याय पर दलितों के आक्रोश एवं प्रतिरोध को व्यक्त किया है। यह फग्गन के इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है " 'बदनी, मैं देखूँगा तुझै', वह आक्रोश से बुदबुदाया। आक्रोश के कारण उसका चेहरा खिंच रहा था, मुट्ठियाँ कस रही थीं और उसकी आंखें सामने दीवार के साथ खड़ी लाठी पर अटकी थीं।"[20]

निष्कर्ष

पारंपरिक कहानी में यथार्थ तो होता है, लेकिन उसके साथ कल्पना का सम्मिश्रण भी होता है। दलित कहानी में विरोध, प्रतिरोध का तेवर गैर दलितों की कहानियों की तुलना में ज़्यादा मुखर और धारदार रूप में आया है। दलित कहानियाँ सामाजिक बदलाव लाने का आह्वान करती हैं। इन कहानियों में आक्रोश है, आग है, लावा है, गुस्सा है तो साथ-साथ संवेदना, मानवीयता और सब्र भी हैं। दलित कहानियों में दलित समाज के उत्पीड़न, संघर्ष और प्रतिरोध का यथार्थ चित्रण है। वर्ण एवं जाति केंद्रित असमानता तथा उसके शोषण एवं दमन के खिलाफ प्रतिरोध की चेतना विकसित करना दलित कहानी का मुख्य लक्ष्य है।

संदर्भ:

1.e-Adhyayan-https://ebooks.inflbnet.ac.in-

दलितकहानियां (दलित साहित्य)- देवेंद्र चौबे

2.हंस- दलित विशेषांक, सत्ता विमर्श और दलित (खंड-1), सं. राजेंद्र यादव, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली-110002,प्रथम सं.2020, पृष्ठ-122

3.वही, पृष्ठ-122

4.वही, पृष्ठ-124

5.वही,पृष्ठ-126

6.वही, पृष्ठ-127

7.वही, पृष्ठ-128

8.वही, पृष्ठ-133

9.वही, पृष्ठ-137

10.वही, पृष्ठ-143

11.वही, पृष्ठ-143

12.वही, पृष्ठ-141
13.वही, पृष्ठ-148
14.वही, पृष्ठ-150
15.हंस-दलित विशेषांक सत्ता विमर्श और दलित (खंड-2), सं. राजेंद्र यादव, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि.,नई दिल्ली-110002, प्रथम सं. 2020,पृष्ठ-163
16.वही,पृष्ठ-163
17.वही,पृष्ठ-166
18.वही,पृष्ठ-166
19.वही,पृष्ठ-166
20.वही,पृष्ठ-167

◆शोध छात्रा, हिंदी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चि- 682022,केरल राज्य।
फोन: 9747902254

भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों की संघर्षमय जीवन-यात्रा डॉ.रामदेव धुरंधर के उपन्यास 'पथरीला-सोना' के संदर्भ में

◆आशा शर्मा ◆◆ डॉ. प्रियंका यादव

सारांश:-

औद्योगिक क्रांति की शुरुआत के साथ ही ब्रिटेन ने दुनिया के अनेक देशों में उपनिवेशवाद की शुरुआत की। 'भारत' भी उन्हीं देशों में से एक था। यहाँ उन भारतीय गरीब, लाचार और मज़बूर किसानों और मज़दूरों का जीवन-संघर्ष है जिन्हें उनकी लाचारी, गरीबी और जीवन-यापन की बेबसी ने गिरमिटिया मजदूर बनाया। वैसे तो प्राचीनकाल से ही लोग विभिन्न देशों में आते-जाते रहे हैं। लेकिन सत्रहवीं सदी में आए अंग्रेज़ों ने भारतीयों को एक-एक रोटी केलिए मोहताज कर दिया। इन गरीब भारतीय किसानों को उनकी गरीबी और भुखमरी के चलते दुनिया के विभिन्न देशों में ले जाया गया, जिन्हें गिरमिटिया मज़दूर कहा गया। 'गिरमिटिया' शब्द अंग्रेज़ी के 'एग्रीमेंट' का अपभ्रंश रूप है। 'गिरमिट' शब्द से 'गिरमिटिया' शब्द का विकास हुआ है, जिससे धीरे-धीरे भारत से गए मज़दूरों को गिरमिटिया मज़दूर कहा जाने लगा। ये गिरमिटिया मज़दूर विदेशी एजेंटों के द्वारा दिए गए विभिन्न तरह के लुभावने प्रलोभनों में आकर अपनी रोज़ी रोटी केलिए एक अच्छा जीवन पाने की लालसा से दुनिया के विभिन्न देशों में पलायन कर रहे थे जहाँ पूरा देश गरीबी की लहर में जकड़ा हुआ था। वहीं इन गरीब,बेबस लोगों को इन बाहरी देशों में उम्मीद की किरण नज़र आती थी। जिस कागज़ पर इन अशिक्षित लोगों से अंगूठे का निशान लगवाकर इन्हें दुनिया के विभिन्न देशों में ले जाया जाता था, उसे 'एग्रीमेंट' कहा जाता था।

बीज शब्द:-गिरमिटिया, संघर्ष, पथरीला सोना, उपनिवेश, कुली डिपो, प्लांटेशन मालिक, मारीच देश।

'एग्रीमेंट शब्द मूलतः अंग्रेजी का है जो अपभ्रंश में 'गिरमिटिया' बना, जिसमें एक अनुबंध के तौर पर मज़दूरों को दिवास्वप्न दिखाकर खेती कराने के लिए ले गए'।[1]

भारत से जानेवाले अधिकतर लोग अशिक्षित होते थे, जिनको पूरी तरह से 'एग्रीमेंट' शब्द का उच्चारण तक नहीं करना आता था। हज़ारों की संख्या में प्रतिवर्ष लोग भारत से दुनिया के अन्य देशों में भेजे जा रहे थे। सुनहरे भविष्य का सपना लिए अपने देश से दूर, अपनों से दूर, अपनी आजीविका केलिए अपनों की ज़रूरत को पूरा करने केलिए ये भारतीय किसान मज़दूर किसी पराए देश में चले जा रहे थे। लेकिन स्थिति कुछ अलग होती थी, जहाँ भारत में लोगों को अनेक लुभावने प्रलोभन दिए जाते थे। जिस तरह से भारतीय गरीब किसानों, मज़दूरों को खुली आँखों से सपने दिखाए जाते थे ऐसा कुछ उन देशों में नहीं होता था। पहुँचने पर पता चलता था कि यहाँ लोगों को जानवरों की तरह एक ही

स्थान पर रखा जाता था, जिनमें केवल पुरुष ही नहीं बल्कि महिलाएँ और बच्चे भी होते थे। कुछ किसान-मज़दूर अकेले तो कुछ अपने परिवार के साथ इन देशों में ले जाए गए थे। जिस अनुबंध के तहत वे लोग सुदूर देशों में जा रहे थे, उस अनुबंध के बारे में इनको पता तक नहीं होता था कि इसमें क्या लिखा हुआ है और वे लोग कहाँ जा रहे हैं, क्योंकि ज़्यादातर लोग अनपढ़ थे। चाहकर भी वो लोग वापस अपने देश, अपनी मातृभूमि में लोटकर नहीं आ सकते थें। इन मज़दूर किसानों को पता ही नहीं होता था कि ये लोग कहाँ जा रहे है वहाँ उनके साथ क्या होनेवाला है। इन मज़दूरों, किसानों को तरह-तरह के प्रलोभन देने केलिए ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत में कुछ दलाल बनाए जाते थे जो इन भारतीयों को विदेशों में जाकर काम करने केलिए राजी करते थे। ये दलाल इन भारतीयों को विभिन्न तरह के प्रलोभन देते थे और एक अच्छा जीवन देने का सपना दिखाकर उन्हें पराए देश में जाने का उत्साह बढ़ाते थे। ये दलाल हर पुरुष, स्त्री यहाँ तक कि बच्चों तक को राजी करते थे।

'कुछ दलाल भारतीय लोगों को बरग लाते हैं उन्हें विदेश में एक राजमहल का ख्वाब दिखाते हैं। जहाँ सब केलिए काम ही काम है। जहाँ कोई गरीब नहीं, सभी बराबर हैं ऐसी दुनिया में जाने केलिए सभी लालायित रहते हैं। लेकिन पहुँचने पर पता चलता है कि सब मिथ्या बातें थीं। घर से इतनी दूर बेगानों के बीच रोते-गाते रहते और बंधुआ मज़दूर बना लिए जाते।[2]

उन्नीसवीं सदी को भारत से सबसे बड़ा मानव जाति का पलायन हुआ था, जिसमें लाखों लोगों ने अपना देश, अपना परिवार खोया था। मानव जाति के इस विस्थापन ने लोगों को अपनों से दूर कर दिया था। चाहकर भी ये लोग अपने देश वापस नहीं आ सकते थे, क्योंकि जिस अनुबंध के तहत मज़दूर इन दूर देशों में जा रहे थे उस अनुबंध की अवधि पाँच,सात या दस वर्ष तक की होती थी, जिस पर हस्ताक्षर या अंगूठे का निशान लगाकर मज़दूर अपनी स्वतंत्रता खो बैठता था।

इन मजदूरों को गिरमिटिया या बंधुआ मज़दूर बनाने केलिए ब्रिटिश दलालों को कुछ भारतीय या ऐसे स्थानीय लोगों की ज़रूरत होती थी जो इन मज़दूरों को अपने देश से दूर, ऐसे स्थानों पर काम करने केलिए सुनहरे सपने दिखाकर राजी कर सके। स्थानीय लोगों को इस तरह राजी करना सिर्फ अपने ही लोगों द्वारा किया जा सकता था। जिन लोगों को इस काम केलिए नियुक्त किया जाता था, उन्हें 'आरकाटी' कहा गया। ये 'आरकाटी' ही इन गरीब मज़दूरों, किसानों-श्रमिकों को तैयार करते थे। 'आरकाटी' कोई दूसरा नहीं बल्कि अपने ही लोगों में से कोई अपना होता था जिस पर ये मज़दूर आँख बंधकर विश्वास कर लेते थे और बंधुआ मज़दूर बनने केलिए तैयार हो जाते थें। इन 'आरकाटियों' के द्वारा यह काम बड़ी चतुराई के साथ किया जाता था। ये लोग ऐसी भीड़ भाड़ वाले स्थानों का चयन करते थेजहाँ इनको एक साथ बहुत बड़ी संख्या में लोग मिल जाते थे। ये अपना काम सरलता से कर पाते। ये लोग गाँव - गाँव, गली –गली घूमकर गरीब लोगों को एकत्रित कर उनको बंधुआ मजदूर बनने से उनके जीवन में होनेवाले सुधारों और लुभावने प्रलोभनों से बंधुआ मज़दूरी करने केलिए तैयार करवाते थे। अनुबंध के तहत उन्हें पांच वर्ष तक केलिए भारत से दूर रहकर' काम करने केलिए राजी करवाते थे और अनुबंध की समय सीमा की समाप्ति पर उन्हें भारत लौट आने का आश्वासन देते थे, जिसके तहत लोग आसानी से बंधुआ मज़दूर बनने केलिए तैयार हो जाते थे। कुछ लोग तो पुनः अपने देश लौट आते थे, परंतु अधिकतर लोग चाहकर भी वापस नहीं आ पाए थे। ऐसे मज़दूर बंधुआ या गिरमिटिया मज़दूर बनकर रह गए, जिन्हें अपना जीवन-यापन करने केलिए अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। अनेक यातनाएँ इन गिरमिटिया मजदूरों को झेलनी पड़ती थीं।

गिरमिटिया मज़दूरों की करुण कहानी कहता 'रामदेवसिंह धुरंधर' का उपन्यास 'पथरीला-सोना :-

गिरमिटिया मज़दूरों, बेसहारा लोगों की ज़िंदगी की कहानी कहता हुआ उपन्यास 'पथरीला-सोना' 'रामदेव धुरंधर' द्वारा लिखा गया है। इसमें इन लोगों द्वारा देखे गए सुनहरे सपनों से लेकर घोर अंधकारमय सत्य को उजागर किया गया है। इन गिरमिटिया मज़दूरों को सामुद्रिक रास्ते से जहाज़ के द्वारा ले जाया जाता था जिसमें सभी आयु-वर्ग के स्त्री-पुरुष और बच्चे शामिल होते थे। जीवन की श्रेष्ठता और ऊँचाइयों के सपने लिए जब ये लोग पराए देशों में पहुँचते थे तो इनको अपनी पहचान, अस्तित्व के साथ-

साथ अपना नाम भी खोना पड़ता था। जिस देश में पैदा हुए, पले-बढ़े इस देश को भूल जाना पड़ता था। एक नए नाम के साथ नई ज़िदगी की शुरुआत करनी पड़ती थी।

जैसे- 'जहाज़ किनारे लगा। समुद्र के ज्वार भाटे पीछे छूटे। अब लोगों के अपने अंतस में ज्वार भाटे उठने की बारी थी। डर की हालत में निशब्द रह जाए, लेकिन नाम बताने केलिए मुँह तो खोलना पड़ता, सही नाम लिखे जाने के साथ काल्पनिक नामों से भी खाना पूर्ति की गई। अनामी रहने की अपेक्षा अच्छा था एक नाम मिल जाए। अपने अस्तित्व की पहचान केलिए लोग दिए हुए नाम को याद रख सके तो गनीमत है अन्यथा दूसरों के सामने गिड़गिड़ाते हुए पूछते फिरे कि कोई मेरा नाम तो बताएँ'।[3]

पराए देश में पराए लोगों के बीच ये मज़दूर अपनी ही पहचान और अपना अस्तित्व गैरों के हाथों सौंपकर परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ लिए जाते थे और इस बात का आभास इन्हें उन सुदूर देशों में पहुँचने के बाद ही होता था। भोले भाले स्वभाव और अपनों के द्वारा ही ठगे गए ये लोग पराए मुल्कों में पहुँचकर स्वयं को ठगे हुए अनुभव करते थे। रामदेव सिंह धुरंधर का यह उपन्यास इन भारतीय किसानों और मज़दूरों की यातना और संघर्ष की महागाथा है, जो आधुनिक मॉरीशस के निर्माण में उन पूर्वजों के श्रम और साधना को रेखांकित करती है जिन्हें पत्थरों के नीचे सोना मिलने का लालच देकर बंधुआ मज़दूरों के रूप में लगभग 200 वर्ष पूर्व अंग्रेज़ों द्वारा मॉरीशस और ऐसे ही अनेक देशों में ले जाया गया था।

विश्व के विभिन्न देशों में पहुँचे भारतीय गिरमिटिया मज़दूर:-

ये भारतीय लोग स्वाभाविक तौर पर इतने भोले और सीधे होते थे कि उन केलिए श्रम ही सब कुछ होता था। श्रम ही इनकी पूजा, श्रम ही इनका संस्कार और श्रम ही इन केलिए इनका भगवान था। ये भारतीय लोग अपना सब कुछ अपने श्रम को ही मानते थे।

इन भारतीय किसान मज़दूरों को देश के अलग-अलग हिस्सों से जहाज़ों के द्वारा ले जाया जाता था। मुख्य रूप से इन्हें कोलकाता के रास्ते ले जाया जाता था, क्योंकि कोलकाता विदेशियों का प्रमुख व्यापारिक केंद्र था। जो गिरमिटिया मज़दूर भारत से ले जाए गए प्रमुखतया ये बिहार से ले जाए गए थे। वहाँ पहुँचकर ये लोग अपना सब कुछ खो देते थे अपनी स्वतंत्रता, अपनी पहचान आदि। इनका कुछ अपना कहने केलिए होते तो उनकी अपनी आत्मा, अपना शरीर मात्र थे। जो इन्हें अपनी मातृभूमि बिहार से मिला होता था वही इनकी अपनी निजी संपत्ति होती थी।

बिहार से जो काया मिली थी वही काया तो यहाँ अपनी होती। बस अस्तित्व को जीने की परिभाषा परिवर्तित हो जानेवाली थी। बिहार में रास्ते पहचाने होते थे। कहीं से भी लौटते तो रास्ता जैसे हाथ थामकर घर की चौखट पर पहुँचा देता था। मारीच देश में तो अपने घर की ही पहचान नहीं थी। यदि इस देश में स्नेहिल रास्ते हों और भटके हुए आदमी को घर की चौखट तक पहुँचाने केलिए स्नेह दिखाएँ, तो भी उन्हें रास्तों से कैसे कह पाएँगे वहाँ है मेरा घर पहुँचा दो मुझे वहाँ।[4]

कोलकाता के रास्ते ये लोग 'मारीच देश'- 'मॉरीशस' केलिए प्रयोग किया गया है- में अलग-अलग टोलियों के रूप में पहुँचाए गए थे। जब ये पहुँचे उस समय शाम बीत चुकी थी। जैसे ही ये लोग वहाँ पहुँचे तो उन्हें अपने साथ हुए धोखे और ठगे जाने की बात समझ आ गई थी। लेकिन इस धोखे और ठगेदारी से बचने का कोई भी उपाय अब इनके पास नहीं था। हर टोली केलिए अलग पहरेदार होते जिनकी क्रूरता और बेईमानी इन मज़दूरों को समझ आ गई थी। लेकिन प्रतिकार करने की हिम्मत कोई नहीं जुटा पाता। अगर कोई प्रतिकार करता भी तो यह कहकर चुप कर दिए जाते, कि अगले दिन समाधान कर दिया जाएगा। बिहार से लेकर इस मारीच देश तक पहुँचे इन भोले स्वभाववाले भारतीयों को समझ आया कि अब समाधान की कोई उम्मीद नहीं है। यदि कोई मज़दूर अपनी आवाज़ उठाता था तो पहरेदारों की चाबुक उन्हें चुप करा देती।

'अन्न से लहलहाते खेत देखने पर सभी की दबी हुई भूख खूंखार हो उठी। मक्की तोड़कर चुभ लाने में अनुपम आनंद आ जाता था। बशर्ते उन्हें ऐसा करने की छूट होती। लोग भूख को किसी तरह काबू में किये आगे बढ़ते रहे। खेतों के बारे में उनके भीतर बस एक इसी कविता का जन्म हो सकता था कि मारीच देश का यह परिधान वाकई मनमोहक है। जंगलों के बीच कटने वाले अपने जीवन की विवशता से जहाँ लोगों का मनोबल टूटा हुआ था वही देश की हरियाली ने उन्हें मानने पर

मज़बूर कर दिया कि ऐसी उपजाऊ ज़मीन को तो सर झुकाना चाहिए'।[5]

समय बीतता जा रहा था। पराए मारीच देश में लोग अपनों से मिल रहे थे। देव रतन, तपासी, रामदरस, दाऊद, आदि वो गिरमिटिया मजदूर हैं जो रामदेव धुरंधर के उपन्यास 'पथरीला- सोना' के कुछ पात्र हैं। इन सब की कहानी एक जैसी है। सब एक समान अपने लोगों द्वारा ठगे गए हैं। इन लोगों के जीवन बसर और खाने-पीने की अगर बात की जाए तो इनके सब को एक जैसे गोदाम पर खाने-पीने का सामान मिलता था। लेकिन उस गोदाम पर भी सामान तभी मिल पाता था जब बड़े साहब के पैरों में पड़कर उनकी रजामंदी मिल जाती थी। यहाँ तक कि उनको गोदाम पर भी अपनी मर्जी से सामान नहीं मिलता था।

लोगों को तरह-तरह के डर दिखाए जाते थे। वहाँ की जनता केलिए और गिरमिटिया मज़दूरों केलिए बड़े साहब ही सब कुछ थे। उस गोदाम में ही एक टूटा-फूटा घर होता था जब किसी मज़दूर को बिना किसी जुर्म या अपराध के सजा दी जाती थी तो उसी मकान के अंदर बेरहमी से रखा जाता था। इसी बात का डर भी इन गरीब भारतीय गिरमिटियों को भी दिखाया जाता था जिसको देखकर ये लोग इतना डर जाते थे कि कोशिश करने पर भी ये अपने अत्याचार के खिलाफ आवाज़ उठाने की हिम्मत नहीं जुटा पाते।

'पहरेदारों ने सभी को उस घर के भीतर का दृश्य दिखाकर आक्रांत कर दिया। भीतर में एक हब्शी जंजीर में झगड़ा हुआ था उसे नंगार खा गया था। लोगों को देखते ही हब्शी ज़ोर-ज़ोर से चीखने लगा। पहरेदारों ने लोगों को बताया कि इस साले ने एक गोरी मेम को बुरी नज़र से देखा था। यहाँ कोई अफ्रीकी या भारत का कोई ऐसी हरकत करता है तो उसकी सजा ऐसी ही होती है'।[6]

डर के मारे मज़बूर अवस्था में चुपचाप गुलामी में पड़कर उन्हें हर तरह का काम करना पड़ता था, दिन भर भारी मेहनत करते थे और खेत मालिकों व सरदारों की गलियाँ सुनते थे, यही अब उनका दैनिक जीवन बन गया था। पुरुष, बच्चे, औरतें सभी मेहनत करते थे। मर्द खेतों में काम करते थे, सिंचाई करते थे और औरतों ने जैसे-तैसे घर का काम संभाला था। सब अपने-अपने हिस्से का काम करने में जुट जाते थे। पुरुषों को खेत में मक्की की सिंचाई का काम मिलता था। सब काम बहुत ही सावधानी से करना पड़ता था। बच्चों को भी मेहनत करने केलिए तैयार कर लिया जाता था। पहरेदारों की यही नज़र रहती थी कि लड़का बारह वर्ष का हुआ या नहीं। बारह वर्ष का होते ही लड़कों को खेतों में मज़दूरी करने केलिए भेज दिए जाते थे। कोई लड़का उम्र से खेतों में काम करने लायक हुआ या नहीं अगर वह अपने शरीर से हृष्ट पुष्ट होता था तो उसे खेतों में काम करने को तैयार मान लिया जाता था। उसे बारह वर्ष की उम्र के साथ जोड़कर देखा जाता था, आखिर खेत की फसल का सवाल था।

प्रत्येक भारतीय गिरमिटिया मज़दूर की यही कहानी थी। यही उनके जीवन का सच था जिसे आज हम लोग सुनकर काँप जाते हैं। उन लोगों ने इसी सच को जिया है और अपनों से दूर पराए देशों में गिरमिटिया मज़दूर बना दिए गए थे।

निष्कर्ष:-

इस प्रकार 'डॉक्टर रामदेव सिंह धुरंधर' का यह उपन्यास 'पथरीला-सोना' भारतीयों की यातना और संघर्ष की महागाथा है, जो भारतीयों के दर्द भरे जीवन को उजागर करता है। इसलिए मज़दूरों केलिए 'सोमदत्त बखोरी' की ये पंक्तियाँ याद आती हैं-

'उनके हाथों में पारस पत्थर नहीं था'। लेकिन उन्होंने जिस पत्थर को भी छुआ उसी को सोना बना दिया'[7]

ये पंक्तियाँ आज के उन्नत, समृद्ध और आधुनिक मॉरीशस के निर्माण में उन पूर्वजों के श्रम और साधना को रेखांकित करती हैं, जिन्हें पत्थरों के नीचे सोना मिलने का लालच देकर बंधुआ मज़दूर बना लिया गया।

संदर्भ:

1.'वर्मा' डॉ.आरती – गिरीराज किशोर का कथा। साहित्य, विनय प्रकाशन, कानपुर; पृष्ठ संख्या 149, 2013।

2.वही ,पृष्ठ संख्या 149।

3.श्रीवास्तव डॉ.दिनेशचंन्द्र – भारतीय गिरमिटिया और

उनके वंशज, पृष्ठ संख्या 23, प्रभात प्रकाशन, 2018।
4.'धुरंधर' डॉ.रामदेव सिंह - पथरीला-सोना प्रथम खंड,पृष्ठ संख्या 1, स्टार प्रकाशन, 2008।
5. वही, पृष्ठ संख्या 1।
6.वही, पृष्ठ संख्या 4।
7.वही, पृष्ठ संख्या 9।

संदर्भ ग्रंथ:

किषोर गिरीराज – पहला गिरमिटिया, राजपाल एण्ड संस, 2015।
किषोर गिरीराज – असलाह हैं, वाणी प्रकाशन, 2007।

◆शोधार्थी
◆◆सहायक प्राध्यापिका
मणिपाल विश्वविद्यालय, जयपुर।
ई- मेल-Priyanka.yadav@jaipur.manipal.edu
फोन- 9571272818

लोक जीवन की परिधि में कृष्णा सोबती का कथा साहित्य

◆पूनम लाकरा

शोध सार-

स्वतंत्रता से पूर्व मुंशी प्रेमचंद ने ग्रामीण परिवेश व किसान जीवन को आधार बनाकर 'गोदान' जैसा महाकाव्यात्मक उपन्यास लिखकर हिन्दी साहित्य की दुनिया में एक नया प्रतिमान रचा और लोक जीवन को प्रतिष्ठित किया। इसकी सफलता से प्रभावित होकर स्वातंत्र्योत्तर लेखकों ने भी इस परिपाटी को आगे बढ़ाया,जिसकी परिणिति में मैला आँचल-फणीश्वरनाथ रेणु, आधा गाँव-राही मासूम रज़ा, राग दरबारी-श्रीलाल शुक्ल तथा लौटे हुए मुसाफिर-कमलेश्वर आदि उपन्यास अस्तित्व में आए।इनके माध्यम से अँचल विशेष की समस्याओं व विशेषताओं का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया। इस संदर्भ में यदि महिला कथाकारों की बात की जाए तो आधुनिक युग की सुविख्यात रचनाकार कृष्णा सोबती का नाम बड़े अदब से लिया जाता है, जिन्होंने अपनी कहानियों व उपन्यासों के ज़रिए गाँव की आबोहवा तथा संस्कृति को जन-जन तक पहुँचाया। गौरतलब है कि उनके बचपन का अधिकांश समय गाँव के सौहार्दपूर्ण वातावरण में बीता था जिससे उन्हें लोक संस्कृति को करीब से जानने-समझने का अवसर प्राप्त हुआ। यही कारण है कि अपना ज़्यादातर समय दिल्ली जैसे महानगर में व्यतीत करने के बावजूद भी उनके अंतः स्थल में गाँव की अनुभूतियाँ एवं स्मृतियाँ रची-बसी थीं, जो विभिन्न रचनाओं के ज़रिए समय-समय पर आकार ग्रहण करती रहीं। शुरुआती जीवनानुभव,तत्कालीन परिवेश एवं देश काल उनके व्यक्तित्व विकास के अभिन्न अंग बन गये थे,जो समय-समय पर उन्हें सृजनात्मकता हेतु प्रेरित करते रहे। अतः उनका प्रभाव साहित्य पटल पर अंकित होना स्वाभाविक ही था।इस शोध पत्र के ज़रिए उनके द्वारा रचित उन कहानियों व उपन्यासों का मुल्यांकन प्रस्तुत करना है, जिनकी भावभूमि लोक जीवन की परिधि को समेटी हुई है। जैसे-सिक्का बदल गया, बादलों के घेरे, दादी अम्मा, बहनें, भोले बादशाह, जिगरा की बात, मित्रो मरजानी, डार से बिछुड़ी,चन्ना तथा ज़िंदगीनामा इत्यादि।

भूमिका-

प्राप्त तथ्यों से यह उजागर होता है कि आज भी हमारे देश की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती है। अतः हिन्दी कथा साहित्य में ऐसी बहुत-सी रचनाएँ हैं, जिनमें ग्रामीण जनजीवन को प्रमुखता दी गयी है। आधुनिक महिला कथाकारों में कृष्णा सोबती अग्रणी स्थान रखती हैं,जिन्होंने अपने धारदार लेखन एवं वाक्पटुता से समाज में व्याप्त बुराइयों, असमानता तथा भेदभाव के खिलाफ जमकर प्रहार किया।उनके कथा साहित्य में जहाँ एक ओर देश विभाजन से उत्पन्न पीड़ा व व्याकुलता का समग्र विवेचन हुआ है, वहीं दूसरी ओर ज़मींदार व साहूकारों के शोषण से पीड़ित-दमित किसानों के असंतोष एवं विद्रोही स्वर की अनुगूँज सुनाई देती है। साथ ही उनकी बहुत-सी कृतियाँ गाँव के स्वच्छंद वातावरण एवं मिट्टी की सोंधी महक से जन सामान्य को अनुप्राणित करती हैं, जिन्हें पढ़कर सच्चे अर्थों में लोक चेतना से प्रत्यक्ष तादात्म्य स्थापित हो

जाता है। अवचेतन में बहुरंगी संस्कृति के प्रति सुखद अहसास जागृत होने लगता है। विभिन्न उदाहरणों के द्वारा उनके कथा साहित्य में व्याप्त ग्रामीण संस्कृति के प्रभाव व सरसता का आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

लोक जीवन की अवधारणा को प्रतिफलित करती कहानियाँ-

कृष्णा सोबती ने ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें लोक चेतना की भावाभिव्यक्ति को महत्त्व प्रदान किया गया है। इनके माध्यम से ग्रामवासियों की समस्याओं, आवश्यकताओं तथा वस्तुस्थिति को सहजता से उभारा गया है। इन कहानियों में कहीं बचपन का भोलापन झलकता है, कहीं प्रकृति के मनोरम दृश्यों का चित्रण आकर्षित करता है और कहीं बदलते वक्त के साथ परिवर्तित होती संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है।सिक्का बदल गया, लामा, टीलो ही टीलो, बादलों के घेरे, दादी अम्मा, बहनें एवं जिगरा की बात इत्यादि कहानियों में मूल रूप से ग्राम्य जीवन की मार्मिकता अंकित हुई है।

'सिक्का बदल गया' देश विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी है।इसमें धार्मिक व सामाजिक एकता पर विशेष बल दिया गया है। इसकी नायिका शाहनी लगभग 50 वर्षों से उस गाँव में रहती आई है, जहाँ की अधिकांश आबादी मुस्लिम है। परन्तु उसे यह अहसास कभी नहीं हुआ कि वह हिन्दू है। सभी गाँववासी एक परिवार की तरह मिल-जुलकर रहते हैं और ज़रूरत पड़ने पर एक दूसरे के सुख-दुख में समान रूप से भागीदारी करते हैं। अपने पति शाहजी और बेटे की मृत्यु के बाद भी उसे अकेलापन महसूस नहीं होता है। वह शान से अपनी बड़ी-सी हवेली में बिना डर-भय के रहती है। गाँव के प्रति उसके गहरे जुड़ाव को निम्न पंक्तियों में दर्शाया गया है-

"यह मीलों फैले खेत अपने ही हैं। भरी-भरायी नई फसल को देखकर शाहनी किसी अपनत्व के मोह में भीग गयी। यह सब शाहजी की बरकतें हैं। दूर-दूर गाँवों तक फैली हुई ज़मीनें, ज़मीनों में कुएँ सब अपने हैं। साल में तीन फसल, ज़मीन तो सोना उगलती है"। [1]

देश विभाजन के कारण जब शाहनी को वह गाँव छोड़कर भारत लौटना पड़ता है तो पूरे गाँव के लोग उसे अश्रुपूर्ण विदाई देने के लिये इकट्ठे हो जाते हैं। दाऊद खाँ जब उसे अपने साथ नकदी व सोना-चाँदी रखने के लिए कहता है, जो मुश्किल घड़ी में उसके काम आ सकें।वह पुनः अपने बड़प्पन का परिचय देती है। अपने पुरखों की ज़मीन, विरासत तथा बने-बनाए रिश्तो के साँचे से उखड़ने का दुख उसे अंदर ही अंदर सालता है, परन्तु वहाँ की कोई भी वस्तु अपने साथ रखना उसे बिल्कुल भी मंजूर नहीं। वह दृढ़तापूर्वक कहती है-

"सोना-चांदी!बच्चा वह सब तुम लोगों के लिए है। मेरा सोना तो एक-एक ज़मीन में बिछा है। नहीं बच्चा! मुझे इस घर से नकदी प्यारी नहीं। यहाँ की नकदी यहीं रहेगी"। [2]

'भोले बादशाह' एक अत्यंत मार्मिक कहानी है, जिसमें एक मानसिक रोग से पीड़ित युवक की करुण गाथा प्रस्तुत की गयी है। अविकसित बुद्धि के कारण उसका व्यवहार लोगों के हृदय में अंजाने में भय और खीज उत्पन्न करता है, जिससे परिवार तथा समाज में उसकी पूर्णतः उपेक्षा होती है,उसका मज़ाक बनाया जाता है। सिर्फ एक माँ ही है जो उसकी चिंता करती है, उसकी गलतियों को बर्दाश्त करती है। उसके सुख-दुख का ख्याल रखती है और परिवार के अन्य सदस्यों से भी अपेक्षा करती है कि वे उसकी परेशानी को समझें। माँ अपने मन की व्यथा को व्यक्त करते हुए कहती है-"जब उस मालिक ने ही उसकी देखभाल नहीं की तो कोई और क्यों करेगा"। [3]

विवाह करने और घोड़ी चढ़ने की धुन लिये वह अधिकांश समय घर से बाहर रहता है। गाँव की गलियों में फिरता रहता है।एक बार पूरी रात इधर-उधर भटकते हुए जब वह सुबह घर पहुँचता है तो तेज़ बुखार से उसका शरीर काँपने लगता है। वह बिना कुछ खाए-पिए बेसुध पड़ा रहता है। माँ जी-जान से उसकी सेवा करती है। बुखार कम करने के लिये घरेलू नुस्खों के साथ-साथ उसे हकीम की दवा भी खिलाई जाती है। लेकिन इन सबका कोई असर नहीं पड़ता। अंततः उचित चिकित्सा एवं जानकारी के अभाव में उसकी मृत्यु हो जाती है।

'बादलों के घेरे' एक लम्बी कहानी है, जिसमें तपेदक रोग से पीड़ित रवि और मन्नो की मर्मस्पर्शी जीवन-यात्रा को आधार बनाया गया है। जिस दौर में यह कहानी लिखी गयी थी, उन दिनों तपेदिक छूत की बीमारी समझी जाती थी और संक्रमण फैलने के डर से

इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों को परिवार से दूर एकांत में रखा जाता था। मन्नो गाँव के खुले वातावरण में पहाड़ों के बीच स्थित कॉटेज भुपाली में रहकर अपनी ज़िंदगी और मौत से संघर्ष करती है। चाचाजी ने उसकी देखभाल के लिये एक नौकर और अम्माजी को रखवा दिया है। कॉटेज के आस-पास की प्राकृतिक सुंदरता का वर्णन करते हुए लेखिका ने लिखा है-

"अलग-अलग खड़े पहाड़ के बीच की जगह पर एक खुली चौड़ी घाटी बिछी थी। तिरछे-सीधे छोटे-छोटे खेत किसी के घुटने पर रखे कसीदे के कपड़े की तरह धरती पर फैले थे। दूर सामने दक्खिन की ओर पानी का ताल धूप में चाँदी की थाल की तरह चमकता था"।4

मन्नो अपनी परेशानी को कम करने के लिये घुड़सवारी,नौका विहार एवं आस-पास की पैदल यात्रा का लुत्फ उठाती है।मन बहलाने के उद्देश्य से वह 4-6 महीने में एक-दो दिनों के लिये चाचा-चाची के पास शहर आती है। इसी दौरान रवि से उसकी मुलाकात होती है। उसके सरल-सहज स्वभाव के प्रति रवि का झुकाव बढ़ने लगता है। अतः नियमित अंतराल पर वह उससे मिलने जाता है। दोनों परस्पर अच्छा समय व्यतीत करते हैं। कुछ समय बाद मन्नो अपनी ज़िंदगी की जंग हार जातीहै।

नौकरी और वैवाहिक जीवन की व्यस्तताओं में रवि के मन से उसकी यादें धुंधली पड़ने लगती हैं। लेकिन वक्त ने करवट ली। उसी बीमारी की वजह से पत्नी और बच्चों के होते हुए भी उसे बिछोह का संताप झेलना पड़ता है। उसके तकलीफ के दिनों में पुनः मन्नो की स्मृतियाँ लौट आती हैं,जो उसके एकांत का सहारा बनती हैं। उसकी विवशताएँ एवं सूनापन निम्न उद्धरणों में चित्रित हुआ है-

"दरवाज़े और खिड़कियों के पर्दे मेरी ही तरह दिन-रात, सुबह-शाम मौन लटकते रहते हैं। कोई इन्हें भरे-भरे हाथों से उठाकर अंदर नहीं आता। कोई इस देहरी पर अनायास मुस्कुराकर खड़ा नहीं हो जाता"।5

'दादी अम्मा' शीर्षक कहानी में दो पीढ़ियों के रहन-सहन और विचारों में आने वाले परिवर्तनों को रेखांकित किया गया है। इसके माध्यम से लेखिका ने प्राचीनता और नवीनता के संघर्ष को बखूबी उभारा है। साथ ही बदलती संस्कृतियों एवं मान्यताओं के बीच भरे-पूरे परिवारों में वृद्धजनों की उपेक्षा और हीन भावना को भी अम्मा के चरित्र के ज़रिए दर्शाया गया है। विवाह जैसे शुभ अवसरों पर भी उनसे न तो विचार-विमर्श या सलाह ली जाती है और न ही उन्हें पारिवारिक महत्त्व के कार्यों में शामिल किया जाता है। परिणामस्वरूप उनके जीवन में उदासीनता, नीरसता और एकाकीपन घर करने लगता है।

"बुढ़ापे की उम्र भी कैसी होती है। जीते-जी मन से संग टूट जाता है। कोई पूछता नहीं, कोई जानता नहीं।"6

अक्सर पुराने लोगों को अपने युग की परम्पराओं व रीति-रिवाज़ों से गहरा जुड़ाव हो जाता है,जिसके कारण वे आने वाले बदलाव के साथ तालमेल नहीं बिठा पाते और स्वयं को परिवार एवं समाज से कटा-छँटा महसूस करते हैं। बदलते वक्त के साथ पौराणिक मान्यताओं के धूमिल पड़ने,सांस्कृतिक नयेपन के प्रति आधुनिक पीढ़ी का आकर्षण एवं बुजुर्गों की असंतुष्टि को बड़ी बेटी के अग्र लिखित कथनों से समझा जा सकता है-

"माँ!अम्मा को दिखाने जाती हो। वह तो कहेंगी यह गले का गहना हाथ लगाते ही उड़ता है। कोई भारी ठोस कंठा बनवाओ, सिर की सिंगार-पट्टी बनवाओ। मेरे अपने ब्याह में मायके से 50 तोले का रानी हार चढ़ा था"। 7

लगभग इसी तरह का दृश्य 'बहनें' कहानी में भी परिलक्षित होता है। बड़ी बहन के बेटे के विवाह समारोह में तीनों बहनों-बड़ी, छोटी और मंझली-का मिलन होता है। वे सभी भावनात्मक रूप से परस्पर बहुत करीब हैं, फिर भी पारिवारिक ज़िम्मेदारियों में इतने उलझे रहते हैं कि किसी खास अवसर पर ही आपस में मिलना-जुलना हो पाता है।पारस्परिक जुड़ाव का ही परिणाम था कि सगे-सम्बन्धियों से भरे घर में व्यस्तताओं के बावजूद भी बड़ी अपनी बहनों की पसंद-नापसंद का पूरा ख्याल रखती है। तत्कालीन समाज में विवाहित स्त्री के लिये बच्चों का न होना कितना दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता था, इसे सास के कथन से समझा जा सकता है-"अपनी बहन को ही देखो पूरे दस साल बाद यह लड़का हुआ था। चिंता के मारे तो मेरा शरीर घुल गया था। बहू का भाग्य ही समझो कि मालिक ने उसकी सुन ली"।8

इस कहानी में इस बात पर भी विशेष बल दिया गया है कि समय के साथ मध्यम वर्गीय समाज में सांस्कृतिक परम्पराओं में पर्याप्त बदलाव होते हुए भी कुछ रस्मों-रिवाज़ों की स्वीकार्यता शकुन के तौर पर बनी हुई है। बड़ी की इच्छा नहीं है कि वह बहनों से अपने लड़के को रुपये दिलवाए। परन्तु लेन-देन के वक्त वह उन्हें मना नहीं कर पाती है। प्रस्तुत है समारोह की भव्यता का एक सुंदर दृश्य-"रात की रौशनी की जगमगाहट में दूल्हे का महकता फूलों का सेहरा चमचमा उठा। घोड़ी पर सोने का मखमली साज चमका और बड़ी-बूढ़ियों के सगुनों में ब्याह और घुड़चढ़ी के गीत गूँजने लगे"। [9]

लोक जीवन पर आधारित प्रमुख उपन्यास-

कृष्णाजी को औपन्यासिक रचना में अभूतपूर्व सफलता मिली। उनका यह सफर 'डार से बिछुड़ी'-(1958) से शुरू होकर 'चन्ना' (2019) में जाकर थमा। इस अवधि के दौरान उन्होंने विविध विषयों पर आधारित अनेक उपन्यास लिखे।वे रचनाएँ खासा लोकप्रिय हुईं,जिनमें लोक जीवन के साथ-साथ नारी संवेदनाओं को भी प्रमुखता दी गयी थी। इस दृष्टि से डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, ज़िंदगीनामा तथा चन्ना उल्लेखनीय हैं।

'डार से बिछुड़ी' की कथावस्तु उस पृष्ठभूमि में गढ़ी गयी है, जिस समाज में अंतर्जातीय विवाह और प्रेम विवाह पूर्णतः वर्जित समझे जाते हैं। यह उपन्यास एक किशोरी पाशो की दारुण दास्तान पेश करता है, जो अपनी माँ की गलती की सजा भुगतने के लिये मज़बूर है। माँ की अनुपस्थिति में वह अपनी नानी तथा मामा-मामी के संरक्षण में पलती और बड़ी होती है। उसके मामा शंकालु एवं संकुचित विचारधारा के समर्थक हैं, जिसके कारण उसे घर की चार दीवारी में बंद रहकर कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता है। मात्र सुनी-सुनाई बात का हवाला देकर उसे बुरी तरह मारा-पीटा जाता है। यहाँ तक कि मेले में घुमाने ले जाने के बहाने उसे जान से मारने की साजिश भी की जाती है। षड्यंत्र की आहट मिलते ही वह घर से भागकर अपनी माँ के पास शरण लेती है, जो अंतर्जातीय विवाह करके शेखों की हवेली जा बसी थी। पर उसकी सुनवाई वहाँ भी नहीं होती। दुगुने उम्र के व्यक्ति दीवान के हाथों उसका सौदा कर दिया जाता है। वह कुछ दिन तो वहाँ सुख-चैन से रहती है, परन्तु जल्द ही दीवान की मृत्यु हो जाने से उसका जीवन पुनः अंधकारमय हो जाता है। फिर तो वह एक से दूसरे हाथ की कठपुतली बनकर स्थायित्व की तलाश में दर-ब-दर भटकती रहती है। उसके साथ जानवरों जैसा व्यवहार किया जाता है। वह अपनी परिस्थितयों को नियति समझकर शांत भाव से यातनाएँ सहती है।

इस उपन्यास में कृष्णाजी ने तत्कालीन समाज में विधवाओं की मार्मिक दशाओं को उद्घाटित किया है। इसमें नारी मन की गुत्थियों और सामाजिक यथार्थ का जिस बारीकी से चित्रण हुआ है वह काबिल तारीफ के है। इसकी सफलता का वर्णन करते हुए इसकी भूमिका में वे लिखती हैं-

'डार से बिछुड़ी' का सीधा-सादा पाठ बिना किसी शिल्प के सहारे स्वयं ही अपने समय के सूत्र बुनता गया और मेरे बाहर के कथ्य को कहानी की आंतरिकता की ओर मोड़ ले गया। मुझे इस दबाव का अहसास तक न हुआ। इतना ही लगा कि मैं इसे मात्र प्रस्तुत करने के निमित्त हूँ। निकश ने जब इसे विशेष कृति करके छापा तो देखकर विस्मय हुआ और न ही विशेष उल्लास। [10]

'मित्रो मरजानी' राजस्थान के ग्रामीण परिवेश एवं संस्कृति को अपने उपन्यास में समेटा हुआ है। इसकी नायिका मित्रो सभी पारम्परिक मान्यताओं को ध्वस्त करते हुए नारी स्वतंत्रता एवं समानता की माँग करती है। वह खुले विचारों की है और उसका विद्रोही स्वर उन तमाम सामाजिक बंधनों का विरोध करता है, जो महिलाओं को उनके अधिकारों से वंचित रखते हैं। मित्रो की चारित्रिक विशेषताओं के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि आधुनिक युग में किस प्रकार गाँव की नैतिक व सामाजिक मान्यताओं की जड़ें कमज़ोर पड़ रही हैं। वह अपनी भावनाओं, इच्छाओं और विचारों को दृढ़तापूर्वक परिवार के सामने रखती है और स्त्रियों के लिये समाज द्वारा निर्धारित घूँघट प्रथा तथा अन्य वर्जनाओं का विरोध करती है। आगामी चिंता-फिक्र से मुक्त वह वर्तमान की खुशहाली पर विश्वास रखती है-"अरी, खा-पी, मौज करो इस बुलबुले का क्या भरोसा आज है कल नहीं।"[11]

उपन्यास 'ज़िदगीनामा' पूर्णतः गाँव की रंगत से सराबोर है। इसके पात्रों के रूप में डेराजट्टा गाँव के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हैं, जो कभी शाहजी की मजलिस और

कभी शाहनी की मंडली के ज़रिए वहाँ की एकता व सौहार्दता की कहानी कहते हैं। पारम्परिक रूप से महिलाओं व युवतियों द्वारा मिल-जुलकर चरखा कातना, तंदूर-चूल्हों पर तरह-तरह के व्यंजनों का पकाया जाना, तीज-त्योहारों की सामूहिक धूम, लोक कथाओं व लोक गीतों का बाहुल्य, बच्चे की चाह में भगवान के दरबार की गुहार तथा विशेष अवसरों पर घर-घर लिपाई-पोताई आदि सभी प्रक्रियाएँ पाठकों को लोक संस्कृति से जोड़ती हैं। एक तरफ तो प्राकृतिक अनुपम की छटा मन को मोह लेती है और दूसरी ओर गाँव की समृद्धि के बहाने पूरे पंजाब की खुशहाली बयाँ होती है-

"भंडार घरों में मक्का और बाजरे की महक से सराबोर हर घर का अंदर और बाहर। वह खुशहाल धरती का खुशहाल लशकारा आँखों की प्यास बनकर हर चौके की चंगेरों के सगुन मनाता रहा। खाने-पहनने और जी भर-भर जी लेने की रीझें। जहाँ का हर मेहनतकश बादशाह अपने सिर के साफे को अपना ताज समझ सम्भालता रहा और अपने खेतों को अपना ऋजक समझ सत्कारता रहा"।[12]

इसमें हीर-राँझे के तर्ज पर अनेकों प्रेम गाथाओं का खूबसूरत वर्णन हुआ है और सौतिया डाह की चर्चा भी ज़ोरों-शोरों से होती है। देसी व विदेशी राजनीतिक गलियारों की ऐतिहासिक घटनाएँ भी आकर्षित करती हैं तो कोट-कचहरी के कानूनी दाँव-पेंच और पुलिस महकमे की कार्यवाहियाँ भी औप्न्यासिक कथावस्तु को गतिमान बनाए रखती हैं। इसमें शोषित-पीड़ित किसानों की दारुण दासताँ भी उल्लिखित है और ज़मींदारों व साहूकारों का बड़प्पन भी दर्ज है। यह अपनी आंचलिकता, काव्यात्मकता, किस्सागोई शैली, भाषिक विविधता तथा चित्रात्मकता के लिये खासा लोकप्रिय हुआ। इसका विराट स्वरूप कहीं भारत-पाक विभाजन की पीड़ा और स्वतंत्रता सेनानियों की गौरव गाथाओं से आप्लावित है और कहीं महाराज रणजीत सिंह की कुशल राजनीति और वीरता से परिपूर्ण। साथ ही इसके माध्यम से मनोरंजन के पारम्परिक साधन जैसे-सरकस, तमाशा एवं लोक नृत्य आदि की महत्ता के साथ-साथ भक्तिभावों की अभिव्यंजना भी हुई है-

"मनसा करत सुख चरण तिहारे मेरी मुरादें परसऊ प्यारे जो सुख आवे सो फल पावे ग़ौस नबी को लागे प्यारे! मनसा करत सुख चरण तिहारे"!। [13]

'चन्ना' उपन्यास का ताना-बाना मुख्य रूप से इसकी प्रमुख किरदार चन्ना के इर्द-गिर्द बुना गया है। उसका जन्म ननीहाल में हुआ, जहाँ सिर्फ बेटे का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया जाता है। परन्तु चन्ना का जन्म संयोगवश हुआ था, जिससे नाना-नानी तथा परिवार के अन्य लोग बहुत खुश थे।अतः देवी का आशीर्वाद समझकर तहे दिल से उसका स्वागत किया जाता है। सामाजिक मान्यताओं को दर किनार करके पूरे गाँव भर में मिठाइयाँ बाँटी जाती हैं। शहर में पिता के यहाँ बधाई के तौर पर सभी को मिठाई के साथ उपहार भेजे जाते हैं।

बचपन के कुछ वर्ष उसने ग्रामीण परिवेश में बिताए। माँ और नानी की मृत्यु के बाद अच्छी परवरिश और पठन-पाठन के लिये उसे शहर जाना पड़ा, जहाँ पिता और सौतेली माँ के संरक्षण व सईदा बीबी के लाड़-प्यार में वह पली-बढ़ी। उसके नाना (शाहजी) गाँव के बहुत बड़े ज़मींदार और पिता जाने-माने व्यापारी थे। लिहाजा रुपये-पैसों की उसे कोई कमी नहीं थी। फिर भी बड़ी होने पर उसके व्यक्तित्व का बाहरी आवरण शहरी ताने-बाने में लिपटा नज़र आता है, किन्तु आंतरिक स्वभाव की संरचना पूर्णतः ग्रामीण परिवेश के साँचे में ढल जाती है। वह अपने अधिकारों के प्रति सजग रहती है। वक्त पड़ने पर कठिन निर्णय लेती है और दोनों परिवारों के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन भली-भाँति करती है। उसकी स्वभावगत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कृष्णाजी ने लिखा है-

"उसमें तर्क से काट-छाँट करनेवाली बुद्धि नहीं, क्योंकि वह पुरुष नहीं। नारी की तरह भावनाओं में बह जानेवाली भावुकता नहीं, क्योंकि वह नारी से अधिक कुछ है। वह अपने विश्वास का आधार लेकर खड़ी रह सकती है। जीवन की लहरों में सेमथकरनिकल सकती है"।[14]

गाँव की आबो-हवा उसके जीवन में इस कदर रच-बस गयी थी कि वह विवाह के सम्बन्ध में किसी ठोस नतीजे पर नहीं पहुँच पाती है। जबकि अपने कॉलेज के दिनों में वह कई युवकों से मिलती है तथा उसके लिये बलवंत सिंह और कमल जैसे योग्य और प्रतिष्ठित युवकों का प्रस्ताव आता है,जो देश-विदेश में काम करने का अच्छा अनुभव प्राप्त कर चुके हैं। जब अपने प्रिय जनों को

खो देने के बाद वह नितांत अकेली रह जाती है तो कमल उसे आगे की पढ़ाई हेतु मुम्बई जाने का सुझाव देता है,फिर भी वह गाँव के प्रति अपने गहरे लगाव को सर्वोपरि रखती है-

"हरी-भरी ज़मीनें, ज़मीनों में कुएँ, वह सब मेरे हैं कमल! उन्हें क्या मैं छोड़ जाऊँगी। मैं स्वयं ग्रामीण हूँ, मैं वहीं पैदा हुई, वहीं पली और आज भी मैं अपने इन कपड़ों के अतिरिक्त जो कुछ हूँ, ग्रामीण हूँ। तुम नहीं समझोगे कमल, उस मोह को"। [15]

निष्कर्ष-

स्पष्ट है कि कृष्णाजी की रचनाओं में ग्रामीण समाज,परिवेश व संस्कृति की पुरज़ोर चर्चा हुई है, जिनकी सहायता से आंचलिकता की सरसता को महसूस किया जा सकता है। इनके माध्यम से गाँवों में रहने वाले लोगों की सरलता, सहजता एवं सादगी की झलक मिलती है। विभिन्न किरदारों के हवाले से उन्होंने ग्राम्य जनजीवन की वस्तु स्थिति,मूलभूत समस्याओं और वास्तविकताओं से प्रत्यक्ष संवाद स्थापित करने का भरसक प्रयास किया है।

संदर्भ सूची-

1. 'बादलों के घेरे' राजकमल प्रकाशन, कृष्णा सोबती, पृ.सं.135, 1979, नई दिल्ली।
2. वही, पृ.सं. 139
3. वही, पृ.सं.53
4. वही, पृ.सं.17
5. वही, पृ.सं.07
6. वही, पृ.सं.35
7. वही, पृ.सं.37
8. वही, पृ.सं.56
9. वही, पृ.सं.60
10. 'डार से बिछुड़ी', राजकमल प्रकाशन, कृष्णा सोबती, पृ.सं.7, 1958, नई दिल्ली।
11. 'मित्रो मरजानी', राजकमल प्रकाशन, कृष्णा सोबती, पृ.सं.81, 1966, नई दिल्ली।
12. 'ज़िंदगीनामा', राजकमल प्रकाशन, कृष्णा सोबती, पृ.सं.11, 1979, नई दिल्ली।
13. वही, पृ.सं.183।
14. 'चन्ना,' राजकमल प्रकाशन, कृष्णा सोबती, पृ.सं.216, 2019, नई दिल्ली।
15. वही, पृ.सं.371

◆बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय,
हिन्दी विभाग,
विद्या विहार, रायबरेली रोड,
लखनऊ, उत्तर प्रदेश- 226025
फोन: 9013005172
ई-मेल:poonamlakra154@gmail.com

चंद्रकांत देवताले की कविताओं में युग्बोध

◆ स्मिता जे एम

साहित्य में जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है। इसमें जीवन की कटु सच्चाईयों और अनुभवों का खुला चित्रण अंकित किया जाता है। इसमें जीवन के विविध रूप हमारे सामने आते हैं। साहित्य का आधार मनुष्य और उसके अपने यथार्थ के बीच जीवित संबंधों से है। साहित्य और मूल्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

चंद्रकांत देवताले साठोत्तरी कविता के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनकी कविताएँ भारतीय सभ्यता की समकालीन समस्याओं को रेखांकित करती है। देवताले ने सठोत्तर स्थितियों का यथार्थ चित्रण अपनी कविताओं में किया है। उनकी कविताओं में युग दर्शन और युगबोध की क्षमता है ।चंद्रकांत देवताले आम लोगों के पक्षधर कवि रहे हैं । इसलिए पाठकों के समक्ष उनकी समस्याओं को प्रस्तुत करना तथा शोषकों के खिलाफ़ आवाज़ बुलंद करने का प्रयास किया है। समसामयिकता पर विचार करने और समाज का यथार्थ चित्रण करने में देवताले अग्रगण्य माने जाते हैं। उन्होंने अपनी रचना में सामाजिक यथार्थ, आर्थिक विषमता, राजनैतिक भ्रष्टाचार आदि का खुला चित्रण किया है।

शोषकों के प्रति विद्रोह:

इनकी कविता में सामाजिकता एवं राष्ट्रियता का भाव प्रखर है ।आधुनिक मनुष्य की समस्याओं, उसकी विवशता और त्रासदी का सम्पूर्ण वर्णन कविता में किया है। उनकी कविता में वर्तमान जीवन की गहरी चेतना एवं आज के आम आदमी के जीवन की विभीषिकाओं का चित्रण मिलता है। स्वतन्त्रता के बाद विलासी राजनीतिज्ञों की नीतिहीनता की स्थिति के कारण उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आर्थिक विषमता, बेकारी, महँगाई, असुरक्षा, अकर्मण्यता और भ्रष्टाचार का जो दौर आया है, यह कवि के मन में विक्षुब्धता और आकोश की जो भावना भर दी और यह देवताले की कविताओं में मुखरित है।

लोकतन्त्र अपने वर्तमान स्वरूप में कुछ लोगों के स्वार्थ की पूर्ति का साधन बन गया है। देवताले ने अपने समय की इस विसंगति को गहराई से महसूस किया है और इसे अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। 'तरतीब के नाम पर' कविता में देवताले सरकार की दमन नीतियों का पर्दाफाश करते हुए कहते हैं-

"और वह आदमी
जो रास्ता देखते देखते कभी का
बेहोश हो गया था
जिसे देखने एक नहीं
बीसों महामहिम दौड़ थे
पर तब तक वह
अस्थिपंचर में बदलकर
फहराते हुए झंडे के पीछे
.....गायब हो गया था
सिर्फ राष्ट्रगीत की धुन पीछे बची थी
वधान की मुद्रा में कुछ लोगऔर सा
दर्पभरे मुस्कुरा रहे थे । [1]

कहने का तात्पर्य है, जो देश केलिए अपना जीवन समर्पित किया उनके सपने टूट गये। जो व्यक्ति सचमुच समाज केलिए खड़ा है उसकी तरफ सरकार कभी नहीं देखती और उसे रास्ते से हटाने केलिए स्वार्थी सरकार कुछ भी करने को तैयार है। स्वाधीन भारत के किसान, मज़दूर तथा सर्वहारा लोगों की कमरतोड़ मेहनत के बावजूद भी सुख के क्षण उनके जीवन में नहीं के बराबर हैं। कवि इन लोगों की आवाज़ बुलंद कर उनको बदलना चाहते हैं। कवि के शब्दों में –

" पत्थरों को तोड़ते हुए आदमी
और कोयला बीनती हुई औरतें
और नंगे पैर ठिठुरते हुए बच्चे
मुझे इस पठार पर
अपने मौजूदा मुकद्दर के खिलाफ
हर रोज़ कुछ दे रहे है
मैं उसको भट्टी में पकाकर
उन्हें वापस करने में लगा हूं
और देख रहा हूं अब इस पठार पर
आहिस्ता आहिस्ता बदलता जा रहा है-
मुट्ठीयों का अर्थ ।"[2]

उनका विश्वास है कि पूंजीवादी व्यवस्था को जब तक धराशायी नहीं कर दिया जाता तब तक सर्वहारा वर्ग का किसी प्रकार का हित नहीं हो सकता।

वे अपने आक्रोश यों व्यक्त करते हैं –

"उठो और अपनी हड्डियों को बजाना शुरू कर दो ।
भूखंड तप कर भट्टी बन रहा है ।
तन कर सीधे खड़े हो जाओ ।
और कहो 'नहीं'।
बहुत हो चुका अब "और नहीं" 'एक दम नहीं'
इस नन्हीं की आंधी में उड़ने लगेंगे
तमाम कागज़ों के पुलिंदे ,वर्दियां
सुभाषित वाक्य और कुर्सियां"। [3]

आम आदमी:

देवताले ने आम आदमी की तकलीफ को गहराई में अनुभव किया और उनके शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठायी ।'चिथड़ा जवाब' कविता में देवताले राजनेताओं का काला चिट्ठा खोलते हुए लिखते हैं–

"उधर जूते कि जख्मी सांसों को
कस्बे के अस्तापाल में सुनाई जा रही थी
अस्तापाल में सुनाई जा रही थी
कठोर कारावास की सज़ा
भिनभिनाती हुई मक्खियों के बीच
फाँसे हुए हत्यारे

उस वक्त देख रहे थे आरामग्राहों में
सिंहासनों के सपने"[4]

प्रस्तुत पंक्तियों में आपातकाल के समय आंदोलन में भाग लिए किसानों और जनता पर सरकार द्वारा शोषण का चित्रण किया गया है ।

उनकी 'वध' कविता में राजनीति के द्वारा जनता पर किए गये अत्याचारों का उल्लेख है, वहीं सत्ता की पोल भी खोल दी है –

"हज़ारों ढंग हैं
हमारा वध करने के लिए
आईने के भीतर रखी हुई स्मृतियां
और दीमाग के नजदीक बंद होती हुई खिड़की
या
कोई भी औरत जिसकी नदी में
एक से ज़्या नावें चलनी हों
और जो आहिस्ता भी हँसे तो
भीतर कि हड्डियाँ तड़क लग जाएँ।[5].....

कहने का तात्पर्य है सत्ता हज़ारों ढंग से जनता की हत्या की जाती है। यहाँ भ्रष्ट राजनीति पर कवि ने तीखा व्यंग्य किया है। कवि देवताले जनता को जागृत करने के प्रयास में निरंतर संवेगात्मक उतार-चढ़ाव से गुज़रते है। कविता 'पोलियोग्रस्त बच्चे की सवारी' में राजनीति में जनता को मोहरे की तरह इस्तेमाल किए जाने के कारण कवि उद्विग्न हो उठते हैं-

"मैं भड्भूंजे की तरह
इन शब्दों को कब तक फोड़ता रहूंगा, मस्तिष्क के
भीतर मृत मछलियों को अबेरते हुए नदी के
चढ़ते बुखार को कब तक अपनी हड्डियों के
थर्मामीटर में चुपचाप पढ़ता रहूँगा।" [6]

स्वतन्त्रता के बाद अमीर और अमीर बनते चले गए और गरीब और गरीब बने। सरकार ने गरीबों केलिए योजनाएँ तो बनाईं, पर उसका लाभ उन तक नहीं पहुँच सका, इसके पीछे अशिक्षा,रिश्वतख़ोरी,भ्रष्टाचार और नेताओं की स्वार्थी नीतियाँ ज़िम्मेदार थीं।' चीते को जुकाम होने से', 'चोंच से पड़े उगाती चिड़िया' जैसी कवितावों में कवि का आक्रोश व्यक्त है।

'हैरत से मर जाना 'कविता आम आदमी की पीड़ा को व्यक्त करती है । मध्यवर्ग के व्यक्ति महँगाई से जूझ रहे हैं। महँगाई की गोली से आम जनता मरती जा रही है । गरीबों तक राशन पहुँच नहीं पाता। देवताले के शब्दों में-

"मैंने सोचा
जब मुझे गोली मार ही दी गयी है
तो मैं क्यों परवाह करूं वर्षों की
राशन कार्ड में छिपी चीजों की
एक कतार सबसे बड़े पहाड़ से शुरू होकर
सबड़े बड़े समुद्र में गिर रही है
फिर भी चेहरा नहीं दिखाती
घर और पेट केलिए जरूरी चीजें।"[7]

कहने का तात्पर्य है वर्तमान राजनीति ने भुखमरी और गरीबी को बढ़ा दिया है। कवि ने वर्तमान जीवन की सच्चाईयों को खोलकर रख दिया है। आज भी बहुत से लोग ऐसे हैं जो एक दिन की रोटी केलिए तड़पते हैं। उनकी फटी हुई आँखें भूख की तीव्रता को व्यक्त करती हैं। विज्ञान की प्रगति ज़रूर हुई है । लेकिन आम आदमी की ज़रूरतों को तृप्त करने में विज्ञान असफल हुआ है ।

"आज भी मकई के खेतों के आस पास
फटी हुई आँखों की गुफाएँ
एक दो की गिनती से गिन लो हड्डियाँ कितनी ही
या फिर दो के पहाड़ से"[8]

'भूखंड तप रहा है' में त्रिभुवन आम आदमी का प्रतीक है। वह शोषण का शिकार है । भविष्य के बारे में उनके सपने धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। 'ट्रक में बकारों की लदान','सवाल-जवाब' आदि कविताओं में आम आदमी की पीड़ाओं का खुला चित्रण मिलता है ।

राजनीति एवं भ्रष्ट नेताओं का चित्रण:

देवताले ने व्यवस्था और राजनीति के विरुद्ध खड़े होकर विसंगतियों पर कविताएँ लिखीं। आम आदमी सबसे अधिक पुलिसवालों से खौफ खाता है, भयभीत रहता है और उस समय राजनेता कमांडो सुरक्षा में हवाई जहाज़ में सफर करते हैं–

"जहाँ हमारे सुख चैन की रखवाली खूँखार दैत्य करते हैं
और उधर आकाश में उड़ते रहते हैं हमारी भलाई के लिए

बड़ी राजधानी वाले खास लोग-छोटी
पुख्ता सुरक्षा दस्तों से घिरे हुए। [9]

देवताले 'फिलवक्त इतना ही 'कविता में राजनीति के विरुद्ध खड़ा होकर क्रांति का आह्वान करते हैं–

"संभालोभवन !-भुवन-मोबाईल-उड़नखटोला
चोबदार- मातहत-फाईलें- कुर्सी
रूम-के शो चरित्र! और सावधान
और खासकर तहखाने के मामले में
तूफान न उठ जाए बेवक्त-कोई बेजा तहल का।" [10]

इन पंक्तियों के द्वारा देवताले सुविधाभोगी राजनेताओं को खबरदार करते हुए कहते हैं कि उनके नकली या बनावटी चरित्र को कभी न कभी जनता के आक्रोश का सामना करना पड़ेगा। कवि ने आर्थिक दृष्टि से साधारण समाज के दुख-दर्द एवं अन्य समस्याओं का चित्रण करने के साथ-साथ सामाजिक दृष्टि से सामान्य लोगों की तरफ भी विशेष ध्यान दिया है। देवताले के अनुसार हमारा राजनीतिक यथार्थ है कि आज जनता शासक वर्ग की निजी हरकतों को मुँह बाँध करके मात्र एक दर्शक के रूप में सहने के लिए अभिशप्त हो गई है। उस समय कविता कुछ भी नहीं कर सकती।

" और यहीं खत्म होती है कविता"
वह कविता
जो चाहे एक हजार भौंकते कुत्तों के बराबर हो
पर हाथी पर जब निकलेगा वह लुंजपुंज बच्चा
तब कविता कुछ नहीं कर पाएगी क्योंकि
लाचार लोग तब सड़कों ,छज्जों और पेड़ों को
अपने से पाट कर
दागी जानेवाली तोपों को
सलामी देते से लगेंगे....."[11]

कहने का तात्पर्य है राजनैतिक लोग निरीह जनता को सपनों के झूठे वादे देते हैं और उन्हें अपने वश में कर लेते हैं।

आदिवासी चित्रण:

'पत्थर फेंक रहा हूँ 'कविता में देवताले राजनीति पर दृष्टिगत करते हुए बहुत मार्मिक स्थल पर चोट करते हैं–

"बाघों को देखने गए हमारे दयालु प्रधानमंत्री
धार के इलाका में- इधर नहीं आए झाबुआ
जो आदिवासी बच्चों के नसीब में होना होता बाघ-
बच्चों जैसे
तो इनका भी नंबर आता।[12]

कहने का तात्पर्य है प्रधानमंत्री बाघों को देखने जाते हैं लेकिन गरीब आदिवासी बच्चे देश के कोने-कोने में भूखे, नंगे, मज़दूरी कर रहे हैं। इनकेलिए योजनाएँ बनाई जाती हैं, लेकिन क्या ये योजनाएँ वास्तव में इन तक पहुँचती हैं -इस पर कोई विचार नहीं करते।आदिवासी स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार के बारे में खुला चित्रण 'इस पठार पर' शीर्षक कविता में किया गया है ।मध्यप्रदेश की आदिवासी जनता पर उन्होंने वाणी दी है –

अफीम के खेतों के इलाके में बाँछेड़ औरतें "
अपने बोदे पतियों की मौज़ूदगी में
देह का धंधा करती है
और बीड़ी के लिए माचिस माँगने बहाने
मर्द धुंधलके में डूबी सड़कों पर
अपनी औरतों के लिए पानी के भाव
ग्राहक ढूँढते है। "[13]

यहाँ पर मध्यप्रदेश की बाँछेड़ औरतों की ज़िंदगी का नंगा चित्रण है।

नारी चित्रण:

देवताले ने भारतीय नारी की सनातन कर्म-यातना का एक विराट चित्र कविता संग्रह 'धनुष पर चिड़िया'में चित्रित किया है। देवताले ने केवल पत्नी पर ही नहीं स्त्री के एकाकीपन,एक पिता होने के अनुभव तथा माँ व समाज के विभिन्न वर्गों तथा आदिवासी स्त्रियों के जीवन को उकेरा है।

उनकी कविताएँ नारी-यातना की कर्म-गाथा, और उसकी अस्मिता व नारी-विषयक गहन व्याकुल सरोकार के प्रमाण हैं। औरत की स्थिति का बड़ा दयनीय चित्रण देवताले ने अपनी कविता में किया है। समाज में पशु के समान जीती औरत के वास्तविक दुख और तनाव उन्होंने अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। आदिवासी जीवन के शोषण का बहुत स्तरीय चित्रण प्रस्तुत किया है।'वह औरत ' कविता में विधवा स्त्री की पीड़ा का वर्णन किया है।

'रेतीले मैदान में बीचोंबीच
हमेशा अपनी किसी गुमशुदा चीज़ को
तलाशती आँखों के साथ एक औरत

सफेद चट्टान की तरह खड़ी है। [14]

'देवीवध' में स्त्री के विभिन्न रूपों, यानी-देवी, वेश्या, डायन आदि पर बात करते हुए कवि स्त्री जीवन की विडंबनाओं का चित्रण करते हैं।

"महानायकों और महकथाओं से रहित
खंख होते समय में पत्थर की तरह खड़ा रहा मैं देर तक
सोचने लगा जिन औरतों को
नंगा करके सताया और घुमाया जा रहा है
शायद वे भी पत्थर,मिट्टी सीमेंट की कैद से-
आज़ाद हुई होंगी।"[15]

इसमें कवि ने फांटसी के चमत्कार और भ्रम के बीच सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित किया है । बलात्कार से पीड़ित एक स्त्री की कथा को 'बाई दर्द ले' कविता उजागर करती है ।

इस प्रकार कवि नारी के विभिन्न रूप चित्रित करते हुए नारी सशक्तीकरण के लिए कदम उठाने तथा उसे हिम्मत प्रदान करने की बात प्रस्तुत करते हैं । उनकी कविताएँ युग बोध प्रदान करने में सक्षम हैं।

निष्कर्ष

संक्षेप में देवताले ने अपनी कविताओं में राजनीतिक विसंगतियों, अधिकारों के दुरुपयोग और शौषण का इतना गहरा वर्णन किया है कि वह पूर्णत: अन्याय के प्रति विद्रोही हो गया। एक ओर बढ़ते सामाजिक विघटन, घोर सांप्रदायिकता, स्त्री उत्पीड़न; दूसरी ओर उदारीकरण के खूबसूरत विज्ञापनी प्यार के खोल में लिपटे निर्माता के इस भयानक समय से कवि वाकिफ है । वैश्वीकरण और उदारीकरण के नाम पर आ रही नई आर्थिक गुलामी और व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करने का प्रयास किया है। राजनीति के नाम पर दिखनेवाले अवसरवाद, पतनशीलता, भ्रष्टाचार, गद्दारी, फूटपरस्ती और मक्कारी का खुला चित्रण किया है जिसके द्वारा अपने देश और देशवासियों के प्रति उनकी राष्ट्रीय चेतना द्रष्टव्य है । हाशिएकृत समाज के वक्ता के रूप में देवताले की भूमिका अहम है ।

संदर्भ :

1.चन्द्रकान्त देवताले, 'दीवारों पर खून से', संभावना प्रकाशन, 1975, पृ. 25

2 .चन्द्रकान्त देवताले, 'लकड्बग्धा हँस रहा है', वाणी प्रकाशन, 2000, पृ. 30

3.चन्द्रकान्त देवताले ,'भूखंड तप रहा है', वाणी प्रकाशन, 2000, पृ. 86

4. आशासिंह सिकरवार, 'समकालीन कविता के परिप्रेक्ष्य में चंद्रकांत देवताले की कविताएँ, जवाहर पुस्तकालय, 2017, पृ.290

5. दीवारों पर खून से: चन्द्रकान्त देवताले संभावना प्रकाशन, 1975, पृ.39

4. चंद्रकान्त देवताले, वहीं, पृ. 87

7. चन्द्रकान्त देवताले, 'आग हर चीज़ में बताई गई थी', राजकमल प्रकाशन, 2021, पृ.47

8. चन्द्रकान्त देवताले, चकमते पत्थर,भूखंड तप रहा हूँ, वाणी प्रकाशन, 2000, पृ.16-17

9. आशासिंह सिकरवार, 'समकालीन कविता के परिप्रेक्ष्य में चंद्रकांत देवताले की कविताएँ , जवाहर पुस्तकालय, 2017, पृ.297

10. चन्द्रकान्त देवताले, 'पत्थर फेंक रहा हूँ',वाणी प्रकाशन, 2001, पृ.133

11. चन्द्रकान्त देवताले , 'दीवारों पर खून से ', भावना प्रकाशन,1975, पृ.40

12. चन्द्रकान्त देवताले, 'पत्थर फेंक रहा हूँ',वाणी प्रकाशन , 2001,पृ.155

13. चन्द्रकान्त देवताले, 'लकड्बग्धा हँस रहा है', वाणी प्रकाशन, 2000, पृ.28

14. वही, पृ.99

15. उजाड़ में संग्रहालय:चन्द्रकान्त देवताले., राजकमल प्रकाशन, 2003, पृ81.

◆शोधार्थी, यूनिवेर्सिटी कालेज,
तिरुवनंतपुरम,केरल राज्य।
फोन:9946053476